¬

सर्व विघ्न नाशक भगवान, शरणागत हूँ कृपानिधान।।
मेरी क्षुद्र वासना क्षय हो, मेरा चित्त तुम्हीं में लय हो।
मुझमें कुछ न रहे अभिमान, शरणागत हूँ कृपानिधान।।

नाथ तुम्हारी शरणागत हम निभा सकें अपने सत्व्रत हम।
हो जाये मेरा कल्याण, शरणागत हूँ कृपानिधान।।

कहीं न अब प्रभु दीन रहें हम स्वतंत्र सत्याधीन रहें हम।
दे दो बुद्धियोग सद्ज्ञान, शरणागत हूँ कृपानिधान।।

मेरे नाथ शक्तिदाता तुम, अपनी विनयभक्ति दाता तुम।
तुम पावन मैं पतित महान्, शरणागत हूँ कृपानिधान।।

किस भाँति तुमको पा जायें मिट जायें पथ की बाधायें।
यही पथिक का सविनय गान शरणागत हूँ कृपानिधान।।

प्रभो आनन्दघन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन् परम प्रेममय पूरन,
हो निरन्तर भजन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन् सबके आश्रयदाता।
हम तुम्हारी षरन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन् सुमिरत मुद मंगलमय।
रहे मन में लगन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन् हम नित्य प्रेम से ध्याये।
रहे जीवन मगन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन् तुम हो सर्व प्रकाशक।
एक सर्वस्व धन नमो परमात्मन् ।।

सत्य परमात्मन हर रूप में हर रंग में।
''पथिक'' के दुःख हरन नमो परमात्मन् ।।

भोगी और योगी

अज्ञान में तुम जो कुछ भी मानते हो मन मे।
जो सन्त सत्यदर्शी वे जानते जीवन में।।
वे देखते क्षण–क्षण में कण–कण में परमप्रभु को।
तुम खोजते फिरते हो मन्दिर में कुज बन में।।
तुम माने हुए प्रभु की प्रिय झाँकी सजाते हो।
वे देखते उसे जिसके चीथड़े हैं तन में।
वे आह सुन दुखी की रक्षा के लिये आतुर।
तुम वाह–वाह करते संकीर्तन भजन में।।
वह कर रहे रोगी के उपचार की व्यवस्था।
तुम ध्यान कर रहे हो प्रभु का किसी चमन में।।
तुम मधुर वाद्य गायन से प्रभु को जब रिझाते।
तब वे लगे होते हैं पतितों के संगठन में।।
निष्काम सिद्ध वे हैं तुम हो सकाम साधक।
वे कर्म में मगन हैं तुम व्यस्त हो कथन में।।
तुम प्रभु को नहीं, प्रभु से धन मान सुख को चाहो।
निष्काम तृप्त वे हैं सच्चिदानन्द घन में।।

पूर्णता की ओर

लेखकं
साधु वेष में पथिक

प्रकाशक

सम्वत् मूल्य रूपया

स्वयं में ही सत्य

जिसे खोजते थे वह है साथ मेरे, यह चिद् आत्मा ही परम देवता है।।
हर एक देह मन्दिर में यह प्रभु प्रतिष्ठित, इसी का बताया हुआ यह पता है

यही तो सभी प्राणियों का है जीवन, इसी से प्रकाशित ये अन्तःकरण मन।
इसी में सकल विश्व जल थल अनिल है, अनल से गगन से यही झांकता है।।

यही नाथ है जिसका अथ ही नहीं है, यही नेति जिसकी न इति ही कही है।
यह अव्यक्त ही व्यक्ति में व्यक्त होता, इसी की ही सत्ता से जग भासता है।।

मनुज मोह निद्रा में सोये हुये जो, किसी खोज मे ही वे खोये हुए जो।
है घेरे हुये सबको सुख दुख के सपने, जिसे गुरु जगाये वही जागता है।।

वहीं यह प्रगट प्रभु जहां 'मैं' नहीं है, यह मैं पन के रहते न मिलता कहीं है।
कृपा की किरण से जब अज्ञान मिटता, तभी यह चिदानन्द घन दीखता है।।

जगत में जो आता, सदा रह न पाता, जो रहता सदा वह है आता न जाता।
यही एक अपना है, अपने में ही है, ये हमको कभी भी नहीं भूलता है।।

हमारा दुखी होना ही प्रार्थना है सुखों में सदा स्तुति वंदना है।
दिखाना नहीं कुछ सुनाना नहीं कुछ परमप्रभु से सबको सुलभ पूर्णता है।।

विषय–सूची

विषय	पृष्ठ
गद्य	
अज्ञान में अपूर्णता	
समझ की अपूर्णता में अंध प्रयास	
दान की पूर्णता	
साधना में अपूर्णता	
प्रभु स्मरण की पूर्णता में योग	
अभ्यास की पूर्णता	
अहंकार की अपूर्णता	
भोग में अपूर्णता योग में पूर्णता	
पद्य	
सर्व विघ्न नाशक भगवान	
प्रभो आनन्दघननमो परमात्मन्	
भोगी और योगी	
जिसे खोजते थे वह है साथ	
प्रभु जी तुम सब उरवासी हो	
जग में सत्संग बिना मानव	
यदि चाहो निस्तार भजो	

विषय	पृष्ठ
पद्य	
तुम्हीं को हे आनन्द धन	
सबके लिये खुला जो	
जब तक तू चाहे देख ले	
प्रभु तुमको न भूलें यही	
जो सत्संग में नित्य आते	
हे दयानिधान तुम्हारे ही गुण	
तुम सम कौन उदार परम	
सभी संत गुरुजन जो समझा	
तुमने मुझको कभी न छोड़ा	
कृपा प्रभु की है अहंकार	
हे प्रेममय प्रभु ऐसी दया हो	
अब तुम्हारी शरण हे प्रभु	
बता दो हे प्रभो तुमको	
हे समर्थ हे परम हितैषी	

परमात्मा ही पूर्ण है

प्रभु जी तुम सब उरवासी हो।।
विनाशी में अविनाशी हो।।

जहाँ होता सब कुछ का अन्त।
वहीं दिखते हो तुम्हीं अनन्त।
सर्व में स्वयं प्रकाशी हो।। प्रभु जी0।।

जहाँ मिल जाता ज्ञानलोक।
न रहता लोभ मोह भय शोक।
तुम्हीं तुम आनन्द राशी हो।। प्रभु जी0।।

प्रभु कृपा से मिटता अज्ञान।
अहं में मिलते नित्य महान।
चपल मन सहज उदासी हो।। प्रभु जी0।।

तुम्हीं में, मैं हूँ देखा शोध।
तुम्हीं मुझमय हो, यह है बोध।
पथिक सर्वात्म विलासी हो।। प्रभु जी0।।

१

अज्ञान में अपूर्णता

ज्ञानियों के संगति से हमें यह ज्ञात हुआ कि बाल्यावस्था से जो कुछ हमने आँखों से देखा और प्रश्न किया कि यह क्या है? हमारे संगियों ने जो कुछ उत्तर दिया उसे हमने पकड़ लिया, और जो कुछ सुना था उन्हीं शब्दों में स्वयं बोलने लगे। इसे हम ज्ञान मानते थे और जो सुनकर हमने माना था उसी को हम उन्हें बताते जो हमसे पूछते हैं, यही परम्परा समाज में चलती आ रही है।

हमने अपने धर्म ग्रन्थों में पढ़ा कि ज्ञान से मनुष्य के दुख मिटते हैं, बन्धनों से मुक्ति मिलती है, परन्तु हम न चाहते हुए सुख के अन्त में वियोग का दुख, हानि का दुख, कहीं अपमान का दुख, कहीं अभाव का दुख, बुढ़ापे का दुख, मृत्यु का दुख भोगते हुए अपने से बड़ी आयु वाले समझदार लोगों को देखते हैं और मृत्यु के प्रथम, वृद्धावस्था आने के पहले ही, नहीं चाहने पर भी हम अनेकों प्रकार दुख भोगते हैं फिर भी हम यह नहीं सोचते कि हम अज्ञान के कारण दुखी हैं अथवा बन्धन में हैं—यही घोर अज्ञान है। चाहते हैं पूर्णता का आनन्द और भोगते हैं अपूर्णता का दुःख।

मानव समाज में प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सुखी रहने का तथा दुख से बचते रहने का प्रयत्न कर रहा है और सुखी रहने के लिये, सुखद सम्बन्धियों का आश्रय लेता है। सुखी रहने के लिये भवन, भूमि, धन,

पद, अधिकार तथा शक्ति को अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है। जितना अधिक जिसे प्राप्त है उतने से सन्तुष्ट न होकर दूसरों के समान होने के लिये जो कुछ उपाय सुनता है वह यथाशक्ति पूरा करता है परन्तु संसार में सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी कोई भी धनी, या सर्वोच्च पदाधिकारी अथवा भूमिपति भवनपति अन्त में दुःखी होकर हाय–हाय करते मृत्यु को प्राप्त होता है।

खोज करने पर,, अध्ययन करने पर पता चला कि जगत में लाखों करोड़ों मनुष्यों के बीच में ऐसे पुरुष हैं जो हाय हाय करते हुए दुखी होकर नहीं, अपितु वाह–वाह कहते हुए आनन्द से भरे हुए मृत्यु के समय मुक्ति का परिचय देते हुए शरीर को छोड़कर गए हैं। उन्हीं का सन्देश निर्देश है, उन्होंने समाज को सावधान किया है कि तुम्हारे दुःख का कारण एकमात्र तुम्हारा अज्ञान है।

अज्ञान की व्यवस्था तो बहुत विस्तृत है परन्तु परिभाषा बहुत ही छोटी है।

एक महापुरुष ने हमें बताया कि तुम्हारे दुख का मूल कारण केवल अज्ञान है और अज्ञान केवल इतना ही है कि तुम अपने को नहीं जानते हो।

इतना छोटा उत्तर सुनकर मैंने विचार किया कि मैं बाल्यकाल में भले ही अपने को नहीं जानता था, बोल न पाता था समझता ही न था, लेकिन जैसे जैसे समझ बढ़ती गई, विद्याध्ययन किया, मैं विद्वान हुआ, तब तो अपना नाम, अपनी जाति, अपना सब कुछ मैं जान गया, अब तो अपनी कभी विस्मृति भी नहीं होती, मुझे अपना पूरा ज्ञान है, मैं पूरे होश में हूँ।

इस प्रकार के प्रवचन को सुनकर महापुरुष की ओर से छोटा सा संकेत मिला कि तुम अपने को जानते नहीं हो, जैसा बाल्यकाल में अपने लिये सुना है वैसा ही मानते हो। तुम अभी तक होश में हो ही नहीं। तुम्हें अपनी खबर ही नहीं है। जब तुम पढ़े न थे, विद्वान न थे, ज्ञानी न बने थे, तब तीन वर्ष की आयु में जो अपना नाम, अपनी जाति, अपना रूप, अपना परिवार समझते थे वही सब इतना पढ़ने विद्वान होने के पश्चात् भी समझते हो, वही परिचय देते हो, अतः तुम घोर अज्ञान में हो।

सन्त ने अज्ञान की व्याख्या बढ़ाई–

तुम घोर अज्ञान में हो क्योंकि विद्वान होने के पश्चात् तुमने कभी विद्या के द्वारा यह खोज नहीं की, मैं जो कुछ हूँ, वह सत्य हूँ, सदा रहने वाला हूँ, स्वतन्त्र हूँ, या झूठ ही हूँ, सदा रहने वाला नहीं हूँ, पराधीन हूँ। तुमने जैसा अपने विषय में सुना वैसा ही मान लिया, वैसा ही परिचय देते आ रहे हो परन्तु यह सब अज्ञान में ही अपने को मान रहे हो और जो कुछ शरीर सम्बन्धित परिवार है, जो कुछ भूमि, भवन, सम्पत्ति आदि पदार्थ हैं उन्हें अपना मान रहे हो। यह 'मैं' और 'मेरा' अज्ञान में माना हुआ है।

तुम जिस देह के साथ अथवा वस्तुओं व्यक्तियों के साथ मिलकर मैं काला, गोरा, मोटा, दुबला हूँ, इतने वर्ष का हूँ, अथवा अमुक जाति का हूँ, इत्यादि जो कुछ भी बने हो या आगे बनोगे यह सब अज्ञान में ही चल रहा है। इसी प्रकार किसी वस्तु व्यक्ति अवस्था परिस्थिति को अपनी मानकर मेरी मेरी कह रहे हो, यह भी अज्ञान ही है। क्योंकि जिस देहादि वस्तुओं के साथ मिलकर मैं कहते हो अथवा जिस मिली हुई वस्तुओं को अपनी मानकर मेरी

कह रहे हो उन पर तुम्हारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, तुम उनके साथ न सदा रह सकते हो और न उन्हें सदा रख सकते हो।

जब तक तुम इस मिली हुई देह को अपने रहने का अथवा कर्म करने का साधन न मानकर देह को ही मैं मानते हो तब तक अज्ञान में हो।

इस देह को भगवान कृष्ण ने क्षेत्र (खेत की भांति) कहा है। इसमें कर्म बोये जाते हैं, कर्मो का फल प्राप्त होता है। इस क्षेत्र अर्थात् देह रूपी खेत द्वारा पुण्य की खेती न करके यदि पाप बोते हो तब तुम अज्ञान में ही हो। यदि तुम देहाभिमानी हो, दम्भी हो, हिंसा कर बैठते हो तथा क्रोधी हो, कठोर स्वभाव वाले हो, अश्रद्धालु हो, गुरु सेवा में आलसी प्रमादी हो, अपवित्र रहते हो तब अज्ञान में हो।

यदि तुम मन की पूर्ति का ही पक्ष लेते हो, उसे वश में नहीं रख पाते हो, यदि तुम रागी द्वेषी अहंकारी हो, आगे आने वाली वृद्धावस्था को तथा मृत्यु को अभी से देखते हुए दुख से बचने की तैयारी नहीं करते हो, तब तो अज्ञान में ही हो। यदि तुम पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धियों में आसक्त हो, तथा वस्तुओं के संयोग जनित भोग सुखोपभोग के लिये लम्पट हो तब विद्वान होते हुए भी अज्ञान में हो। यदि तुम अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में हर्ष शोक से विचलित रहते हो तब तुम अज्ञान में हो।

यदि तुम्हारे हृदय में भगवान के प्रति अनुराग नहीं है, भक्ति नहीं है और जगत के पदार्थों में असक्ति है, साथ ही सदा प्रपंच तथा प्रपंचियों में व्यस्त रहते हो, तब तुम अज्ञान में हो। यदि आत्मा को न जानकर देह को ही अपना रूप मान रहे हो, और वस्तु के तत्व को, सत्य न जानकर उसके नाम

रूप को ही ग्रहण किये हुए, उसी के संयोग से सुखी ओर वियोग से दुखी होते हो तब तुम कितना ही पूजा पाठ तप व्रत करते रहो, परन्तु अज्ञान में हो। यदि तुम सांसारिक वस्तुओं के ज्ञान अर्थात् भौतिक विज्ञान के भोगी हो परन्तु उसे जनता की सेवा में उपयोग नहीं करते हो, तथा आत्मा क्या है ? आत्मा क्या नहीं है ? इस प्रकार अध्यात्म–ज्ञान में लगे हुए नहीं हो; तुम पराये रूप का स्मरण चिन्तन करते हो परन्तु स्वरूप के ध्यान का स्मरण नहीं रहता तब तो घोर अज्ञान में ही समय बिता रहे हो।

यदि तुम बालकों एवं मूर्खों की भांति इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों में ही, मन को व्यस्त रखते हो, भीतर आत्मा की ओर बुद्धियुक्त होकर लौटने की साधना से विमुख हो, तब शास्त्र वेद के पण्डित होकर भी अज्ञान में ही हो।

गीता रामायण उपनिषदों का अध्ययन करते हुए यदि तुम विनाशी वस्तुओं व्यक्तियों में ममता रखते हो, उनसे कामना रखते हो, उन पर अधिकार मानते हो तब अज्ञान में ही हो।

यदि तुम इस देह पर मन पर तथा परिवार के प्रियजनों पर एवं धन सम्पत्ति पर अर्थात् विनाशी पर तो आस्था श्रद्धा विश्वास आत्मीयता रखते हो लेकिन अविनाशी आत्मा पर, विश्वमय परमात्मा पर आस्था श्रद्धा विश्वास आत्मीयता नहीं दृढ़ कर पाते तब समझ लो तुम अज्ञान में हो और कभी न कभी वियोग का, रोग का, विनाश का दुख भोगना ही होगा।

जब कभी तुम अशान्त होते हो, भयातुर हो, जीवित होते हो, तथा जहाँ कहीं तुम ईर्ष्या द्वेष, कलह, क्रोध, निन्दा, घृणा द्वारा अपनी सहज सुलभ

प्रसन्नता को खो देते हो तब ऊपर से साधु सन्त गुरु परमहंस कुछ भी माने जाओ परन्तु भीतर तो अज्ञान में ही हो।

जब तक बुद्धि मोह में सनी है, तथा धन मान भोग सुख के भोग में सम्मोहित है, और तुम भीतर से विषयों का चिन्तन करते हुए, ऊपर से आँख बन्द करके ध्यान करते हो, हठपूर्वक इन्द्रियों को रोकते हो तब तक अज्ञान की सीमा को पार नहीं कर सके हो।

सभी क्रियायें प्रकृति द्वारा हो रही हैं—आत्मा अकर्ता है ऐसा कहते हुए भी जब तुम कर्ता बनते हो और सम्मोहित अहंकार को नहीं देख पाते हो तब तुम अज्ञान में ही हो।

यदि समीपस्थ परमात्मा को सबमें एवं स्वयं में भी आत्मा के रूप में नहीं जानते हो और ईश्वर की खोज में दूर दूर की यात्रा करते हो पुनः सबसे कहते हो कि हम उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम अमुक अमुक भगवान के दर्शन कर आये, तब तुम भले ही मानो परन्तु अज्ञान में ही हो।

जब तुम किसी मन्दिर में अथवा आश्रम में भगवान के अथवा सन्त महात्मा के दश्रन करते हो और कहते हो, हमारे पाप कट गए ? उस समय तुमसे पूछा जाय कि कौन से पाप कट गये? कितनी देर के लिये कट गए? जब इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते हो तब तुम अज्ञान में ही हो। तब दर्शन का लाभ जो होना चाहिये वह नहीं होतां

जब तुम कहते हो कि सन्त दर्शन का भगवान के दर्श्न का महान लाभ मिला परन्तु लाभ का नाम नहीं बता पाते हो कि धन लाभ हुआ या मान मिला, या कोई वरदान मिला या किसी रोग की निवृत्ति हो गई अथवा मोह

लोभ अहंकार आदि दोषों की निवृत्ति हो गई जब इनमें से कोई लाभ नहीं दिखा पाते तब तुम अज्ञान में ही हो।

जब तुम सत्संग के लिये कहीं जाते हो परन्तु असत् का, अनित्य का, चिन्तन मनन अथवा व्यर्थ चर्चा नहीं छोड़ पाते हो, अथवा सत् असत् का, जड़ चेतन का पाप पुण्य का, धर्म अधर्म का अथवा अहंकार का, आत्मा का, विवेचन नहीं कर पाते हो तब तुम अज्ञान में ही सत्संगी होने का अभिमान करते हो।

हमें यह भी समझाया गया है कि श्रद्धावान होकर अपने श्रद्धेय पूज्यास्पद की सेवा करते हो परन्तु उनकी आज्ञा न लेकर मन से ही, उनके मन की बात जान लेते हो परन्तु उनके अनुकूल सेवा नहीं होती फिर भी तुम उसी आदत को दुहराते जाते हो तब तुम मनाग्रही हो, अज्ञान में हो।

जब तुम्हारे श्रद्धास्पद गुरुदेव किसी वस्तु के देने को मना करते हैं किसी प्रकार की पूजा के लिये अपनी सेवा के लिये मना करते है किसी पदार्थ को लौटाने के लिये कहते हैं फिर भी तुम नहीं मानते हो और उनसे अस्वीकार करने को, लौटा ले जाने का कारण भी नहीं पूछते, अपितु अपने मन से उनके रुष्ट होने की कल्पना करते हो, दुखी होते हो तब तुम गुरु के समीप जाकर भी अज्ञान में हो।

जब तुम गुरु की स्तुति करते हो या सुनते हो कि गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु महेश्वर हैं इस स्तुति के अर्थ स्वयं गुरु से नहीं पूछते हो और गुरु की देह को ही ब्रह्मा, विष्णु, शंकर मानकर देह में मोह ममता बढ़ाकर

दशन से अति प्रसन्न होते हो और दर्शन न मिलने से दुःखी हो जाते हो, तब ज्ञान दृष्टि से तुम अज्ञान में हो।

कोई बालक किसी तपस्वी, त्यागी, सन्यासी, जगत गुरु, हंस परम हंस अवधूत का नाम सुनता है फिर उन्हें देखता है, तत्पश्चात् लोगों को प्रणाम करते देखता है, वैसे ही वह भी हाथ जोड़कर प्रणाम करता है, वह बालक युवा होने पर विद्वान होने पर उसी प्रकार वेष देखकर हाथ जोड़ता रहे, प्रणाम करता रहे, सेवा भी करता रहे, वह यह न जाने कि तप, त्याग, सन्यास गुरुत्व जगदगुरु के अर्थ क्या होते हैं, तब तो वह अज्ञान में ही है।

अब तुम किसी के बाहरी वेष को देखकर ही सन्त, महात्मा, त्यागी, तपस्वी मान लेते हो बुद्धि विचार द्वारा उसकी अन्तर प्रकृति की अथवा उसके विचारों की एवं उद्देश्यों की खोज नहीं करते हो तब ज्ञान दृष्टि से अज्ञान में हो।

जब तुम किसी को त्यागी, ज्ञानी, मुक्त समझकर उसकी पूजा करते हो और बाद में उसके कुलक्षणों को देखकर उसकी निन्दा करते हो, घृणा करते हो तब भी तुम अज्ञान में हो क्योंकि तुमने उसके विकारी तन को ही, अथवा उसकी विकारी इन्द्रियों को ही अथवा उसके विकारी मन को ही त्यागी, ज्ञानी, मुक्त, संत महात्मा मान लेने की भूल पहले से ही की है और जहां विकारी तन–मन अहंकार है वहीं पर इन सबके पीछे चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप आतमा तो निर्विकार है ही। जब तुम किसी को दोषी समझकर उससे घृणा करते हो, क्रोध करते हो फिर भी अपने भीतर के क्रोध को द्वेष को घृणा को, दोष को नहीं देखते तब तुम अज्ञान में हो।

जब तुम अज्ञान में माने हुए अथवा नेत्रों से देखे हुए किसी त्यागी–विरागी, तपस्वी, सन्यासी तथा परमहंस अवधूत की भांति त्यागी–विरागी, सन्यासी, तपस्वी का वेष बनाते हो और दर्शक जन तुम्हारे बनावट की पूजा करते हैं, तब सन्तुष्ट होते हो, किन्तु जब कोई तुम्हें त्यागी–तपस्वी, सन्यासी अवधूत नामक ढोंगी, पाखण्डी कह देता है तब दुखी खिन्न होते हो, तब भी अज्ञान में हो।

जब तुम शरीर द्वारा होने वाली सेवाओं तथा मन वाणी द्वारा व्यक्त होने वाली मधुर प्रीति तथा सरलता, नम्रता, सहानुभूति आदि सद्गुणों के बदले में मिलने वाली प्रतिष्ठा के कारण अपने को श्रेष्ठ समझने लगते हो और दूसरों को हीन भाव से देखते हो तब अज्ञान में ही हो।

हमें यह भी समझाया गया कि जब दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मान लेते हो और दूसरों की उदारतापूर्वक सेवा को पाकर अपने को गुणवान–ज्ञानी मान लेते हो तब भी तुम अज्ञान में हो।

जब कभी तुम्हारे प्रति कोई कर्त्तव्य पालन नहीं करता तथा उदारतापूर्वक सेवा नहीं करता अथवा देने योग्य वस्तु को नहीं देता तब तुम उस पर क्रोध करते हो अथवा उसकी निन्दा करते हो तब भी तुम अभिमान के कारण अज्ञान में हो।

अज्ञान ही अहंकार के कर्म विस्तार का क्षेत्र है। जहां तक अज्ञान है वहां तक अहंकार है और जब तक अहंकार कर्ता बनता रहता है तब तक अज्ञान है। अज्ञान में ही अहंकार की सारी बनावट है, फंसावट है, गिरावट है।

हमें यह भी समझाया गया–

अज्ञान में जगत को चाहने वाला जगत् को नहीं पकड़ पाता और ज्ञान में जगत से विमुख होने वाले को जगत नहीं पकड़ पाता। ज्ञानी विरक्त को जगत चाहता है, जगत को आसक्त चाहता है। अज्ञान से सब कुछ देह के काम आये–यही सकामवाद है। देह सबके काम आये–यही निष्कामवाद है।

अज्ञान में अहंकार सकामी होता है। अहंकार जब कुछ देता भी है तब उसका दान, प्रायः बदले में फल पाने के लिये होता है। अज्ञान में अहंकार लोभ मोह अभिमान वश तथा कामना की पूर्ति के लिये पाप भी करता है और यह अहंकार ही अधिक धन भोग सामग्री तथा मान पाने के लिये अनेकों प्रकार के पुण्य भी करता है।

अज्ञान में पाप पुण्य का कर्ता भोक्ता अहंकार ही होता है। अहंकार ही अपनी तृप्ति चाहने के कारण सुख की आसक्तिवश कभी स्वाधीन नहीं होता।

अज्ञान में यह अहंकार अशिक्षित रहने की अपेक्षा शिक्षित विद्वान होने पर तथा गृहस्थ होने की अपेक्षा ज्ञानी बनने पर बहुत अधिक अन्धकार में होता है, अति कठोर होता है।

जिस प्रकार अन्धकार में किसी वस्तु को पकड़ा जाता है, देखा नहीं जाता उसी प्रकार ज्ञान प्रकाश न रहने तक अज्ञान में ग्रहण होता है लेकिन दर्श्न नहीं होता।

प्रायः प्रत्येक मनुष्य, संग के प्रभाव से शिक्षित होने पर वाक्यों का प्रयोग अच्छे विद्वानों पण्डितों के समान ही करने लगता है, उनके अर्थ भी बता देता है लेकिन वाक्यों के अन्तर भाव एवं रहस्य को नहीं जान पाता।

आज प्रत्येक हिन्दू आर्य, संस्कार–प्रेरित होकर अथवा संग–प्रेरित होकर पूज्यभाव से तीर्थों में, मन्दिरों में, दर्शन करते हुए सन्तुष्ट होता है परन्तु दर्शन किस दृष्टि से होते हैं इसे वृद्धावस्था तक नहीं जान पाता।

सहस्रों दर्शकों को यही नहीं ज्ञात है कि सुनकर मन से माना जाता है, उसी माने हुए को, विद्वानों गुरुजनों की संगति से यथार्थ रूप में जाना जाता है और जाने हुए को साधना के द्वारा प्रज्ञा दृष्टि से देखा जाता है; इसी देखने को दर्शन कहते हैं।

सर्वसाधारण जन आंखों से किसी पूज्य देव मूर्ति के देखने को ही दर्शन मानते हैं। तीर्थ में कुम्भ में हजारों वेषधारी साधु तपस्वी सन्यासी उदासी वैरागी महात्माओं को देखकर नमस्कार करते हुए सन्तुष्ट हो जाते हैं।

यह गुरु निर्णय है कि कोई भी मनुष्य अज्ञान में भी धर्म का तथा भगवद् नाम का सहारा लेकर छल कपट दम्भ से भी जप कीर्तन भजन ध्यान करेगा तो भगवान की करुणा कृपा से उसे ज्ञान में दर्शन की दिशा अवश्य ही मिलेगी। भले ही उस दिशा में प्रमादवश यात्रा न करे तो–यह उसका दुर्भाग्य होगा।

दया से ही हमारी कामनायें वासनायें पूर्ण होती हैं और कभी न कभी भगवान की कृपा से कामनाओं वासनाओं की निवृत्ति के लिये ध्यान ज्ञान भी सुलभ होता है।

हम अनेकों साधक दुखी दशा में मुक्ति, भक्ति, शान्ति के लिये प्रार्थना करते हैं परन्तु हमारे साथ हमारी ही पाली पोसी हुई पशु शक्ति, राक्षसी वृत्ति, दानवी वृत्ति, अपनी अपनी पूर्ति चाहती है। हमारे साथ देवता भी अपना अपना भोग चाहते हैं।

सुना है कि देवता राक्षस दानव यक्ष और पशु की भी वासनायें सूक्ष्म रूप में मनुष्य देह का आश्रय लेकर अपनी अपनी पूर्ति के अवसर देखती पकड़ती रहती हैं। हम लोग नहीं जानते कि जन्म लेने के पहले से ही हम अनेकों पशु तथा आसुरी राक्षसी एवं दैवी शक्तियों से सम्बन्धित हैं।

अच्छी संगति से हमारी जानकारी बढ़ती जाती है। जिस विषय का जो ज्ञाता है उसके संग से हम उसी विषय की जानकारी प्राप्त करते हैं।

भौतिक जगत के पदार्थों के विषय में जानकारी को भौतिक विज्ञान कहते हैं।

अन्तरिक्ष में आन्तरिक दैवी शक्तियों के विषय में जानकारी को आधिदैविक विज्ञान कहते हैं और आत्मा अथवा मूल कारण के विषय में जो जानकारी होती है उसे आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं।

प्रायः अनेकों विद्वान भी मानने को ही ज्ञान मानकर जीवन पर्यन्त उसी मान्यता के अनुसार अपने को ज्ञानी मानकर अपने से अधिक अज्ञानी जनों के मध्य सन्तुष्ट रहते हैं।

आज समाज में लाखों नर नारी धर्म के विषय में, कर्त्तव्य के विषय में, सुख दुःख के विषय में तथा लाभ–हानि एवं अपने और पराये, पाप और पुण्य

तुच्छ और श्रेष्ठ, भक्ति और मुक्ति, शान्ति और अशान्ति, भक्त और भगवान, सत् और असत् के विषय में मानते हैं परन्तु जानते नहीं। उन्हें यह ज्ञात भी नहीं है कि मानने और जानने में क्या अन्तर है?

अज्ञान में हम जिसे अपना मान लेते हैं, ग्रहण कर लेते हैं उसी के परिणाम से अधोगति होती है और कुछ ऐसा भी मानना है कि उससे उन्नति सद्गति होती है।

यदि हम तन को, मिले हुए धन को अपना मानते हैं तब मोह लोभ बढ़ने से दुखद गति होगी।

यदि हम किसी चोर को, दुर्व्यसनी को, जुआरी लम्पट कामी, क्रोधी, लोभी, अभिमानी, अहंकार के मद में उन्मत्त को अपना मानते हैं तो इस संग के प्रभाव से हमारी अधोगति होगी।

यदि हम किसी उदार तथा नम्र एवं सरल, निरभिमानी, श्रद्धालु, सत्संगी, सेवा परायण, परोपकारी सज्जन को अपना प्रिय मानते हैं तो उसके संग के प्रभाव से सद्गुण बढ़ेंगे और हमारी उन्नति होगी।

यदि हम किसी रागद्वेष रहित काम क्रोध द्वेष से रहित भक्त ज्ञानी विरक्त महात्मा को श्रद्धा प्रीति पूर्वक अपना मानते हैं तो हमारी सद्गति होगी।

अज्ञानी अविवेकी भोगी विलासी से अपनत्व का सम्बन्ध हमें वैसा बनने में सहायक होता है, इसके विपरीत ज्ञानी विवेकी योगाभ्यासी संयमी सन्त महात्मा को अपना मानते हैं, अटूट श्रद्धा रखते हैं तो इस प्रकार की संगति,

हमारी उन्नति सद्गति में, अथवा गुणों के विकास में, ज्ञान विवेक को वृद्धि में सहायक होती है। इसीलिये दुर्गुण दुर्विकार बढ़ाने में जो सहायक हो उसे मानना पतन के हेतु है।

अज्ञान में अपना मानने के कारण प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के संयोग का भोग होता रहता है, अन्त में वियोग का दुःख, हानि का दुःख भोगना पड़ता है, लेकिन ज्ञान में वस्तु अथवा व्यक्ति के परिवर्तन की जानकारी तथा प्रत्येक सम्बन्ध के विच्छेद की जानकारी, वस्तु की अनित्यता की जानकारी एवं भोग के परिणाम और प्रत्येक वस्तु के स्वभाव अर्थात धर्म की जानकारी होने पर भोग के विपरीत, प्रत्येक वस्तु के द्वारा, प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्तियों की सेवा होने लगती है। इसीलिए ज्ञान के प्रभाव से कर्म, भोग न बनकर, कर्म–योग हो जाता है तथा भाव का भोग न होकर, भक्तियोग हो जाता है एवं ज्ञान का भोग न रहकर ज्ञान–योग पूर्ण हो जाता है।

सम्यकदर्शी न होने के कारण ही जीव अपने को अज्ञान में जो नहीं है, वह मानता रहता है और जो अपना नहीं है, उसे अपना मानकर मोही–लोभी, अभिमानी बना रहता है।

ज्ञान में देखने के प्रभाव से जीव, शिवमय हो जाता है। नर, नारायणमय हो जाता है। पराधीनता से मुक्त होकर सहज स्वरूप को पा जाता है। दर्शन की दृष्टि न खुलने तक पराधीन, परतन्त्र, जड़ाधीन तथा मृत्यु से ही घिरा रहता है। दर्शन के आरम्भ होते ही मानव आकृति में मानवता का आरम्भ होता है, दानवी प्रकृति का दमन, पशुता में संयम और दिव्यता की पूर्णता के लिए नियम पूर्ण होता है।

हमें समझाया गया है कि साधु साधक ज्ञान में देखने के प्रभाव से मानव जड़ता से चेतना की ओर,, देह से आत्मा की ओर,, अनित्य से नित्य की ओर, ग्रहण से त्याग की ओर, संग्रह से दान की ओर,, अधर्म से धर्म की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर, घर से मन्दिर की ओर, पतन से उत्थान की ओर,, संसार से स्वयं की ओर,, अनेकता से एकता की ओर,, मोह से प्रेम की ओर,, काम से विमुख होकर आत्माराम की ओर उन्मुख होकर सद्गति, परमगति प्राप्त करता है।

अज्ञान में यह अहंकारी जीव सदैव 'यह मेरा है', 'वह भी मेरा है', यह मन्त्र जपता रहता है, लेकिन दर्शन के प्रभाव से 'यह कुछ भी मेरा नहीं;, तन मेरा नहीं, प्राण मेरे नहीं, मन मेरा नहीं; जो कुछ भी है सब प्रभु का ही है, केवल परमात्मा प्रभु ही मेरा है'—यही स्मरण रखता है।

अज्ञान में 'मेरा मानते रहना' मृत्यु की सीमा में आबद्ध रहना है और दर्शन के प्रभाव से अमृतत्व की अनुभूति में नित्य मुक्त रहना है।

यह भी गुरु निर्णय है—

अज्ञान में तुम अपने सुख के लिए जिस किसी को अपनी आधीनता में रखना चाहोगे तब किसी न किसी रूप में तन से नहीं मन से ही तुम्हें उसकी आधीनता बांधे रहेगी।

तुम सभी प्राणियों का हित चाहो, सभी के प्रति प्रेम से भरे रहो, सभी के प्रति करुणा भाव से व्यवहार करो।

परमात्मा की सृष्टि में सभी अपने हैं, इस प्रकार के सर्वोत्तम भाव से ही अगाध प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता के विस्तार में ही स्वाधीनता और शान्ति सुलभ रहती है।

कोई भी मनुष्य अशान्ति के लिए अथवा दुःख भोगने के लिये अपनी समझ से कुछ भी नहीं करता, फिर भी अशान्त होता है और सुख के अन्त में दुःख ही भोगता है। सारी योग्यता बुद्धिशीलता धरी रह जाती है।

यह गुरु निर्णय है कि अज्ञान में जब तक मिली हुई शक्ति सम्पत्ति योग्यता का दुरुपयोग होगा तब तक असफलता ही आयेगी।

निष्काम सेवक ही सेवा में प्राप्त का सदुपयोग करता है। सकामी पूर्ति में मिले हुए का दुरुपयोग करता है।

अज्ञान में ग्रहण करते जाने के कारण ही समस्त बन्धन बढ़ते हैं और ज्ञान में उन बन्धनों को जानते हुए अन्त में नित्य अविनाशी सत्य के दर्शन होने पर समस्त बन्धनों से मुक्ति और सत्य परमात्मा की भक्ति सुलभ होती है।

अज्ञान में जीवात्मा जड़ वस्तु अर्थात् विनाशी पदार्थों में प्रीति करता है। ज्ञान में नित्य चेतन अविनाशी परमात्मा में प्रेम को स्थिर देखता है।

अज्ञानपूर्वक ग्रहण करने में ही मोह लोभ मद मत्सर अभिमान अहंकार आदि दोष प्रबल होते हैं।

ज्ञान में आत्म दर्शन से विवेक उदारता विनम्रता सरलता निष्कामता, सेवा प्रेम आदि दैवी गुण जाग्रत होते हैं।

अज्ञान में ग्रहण के कारण ही तृष्णा ममता आसक्ति कामना की परिधि में सुख दुःख का भोग चलता रहता है।

ज्ञान में जगत को देख लेने पर विरक्ति अनासक्ति द्वारा शान्ति विश्राम सुलभ होने पर योगानुभूति होती है।

अज्ञान वश मान्यता अनुसार हम सभी मनुष्यों में कामना पूर्ति के सुख से ही आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति ही प्रेमभाव को संकीर्ण बनाती है। आसक्ति ही असीम से विमुख बना कर सीमा में तथा चेतन से विमुख बनाकर जड़ता में, स्वाधीनता से विमुख बनाकर पराधीनता से बाँध देती है। अपना ज्ञान न होने पर ही अन्य वस्तु में आसक्ति उत्पन्न होती है। ज्ञान के विपरीत दिशा में रहने के कारण जो वस्तु अपनी नहीं है वह अज्ञान के कारण अपनी प्रतीत होती है और अपनी प्रतीत होने से ही वस्तुओं के प्रति लोभ एवं व्यक्तियों के प्रति मोहादि दोष जीव को दुखदाता बनाते हैं।

प्रायः प्रत्येक दुखी जीव जिन दोषों से दुखी होता है उन्हें दूर करने का उपाय न करके किसी अन्य को दुःखदाता मानकर ईर्ष्या द्वेष, कलह, क्रोध, निन्दा, घृणा करते हुए पापों की वृद्धि करता रहता है। इस तरह का निर्णय पढ़कर, सुनकर भी कोई विरले ही सावधान साधक अपने दोषों को देखने के लिये सजग रहते हैं। असावधान व्यक्ति पूजा, पाठ, जप, कीर्तन, अनुष्ठान तीर्थ स्नान दान आदि शुभ कर्म करते हुए भी दुखदाता दोषों को न देखकर सुख शान्ति के लिए घोर श्रम एवं संघर्ष करते रहते हैं किन्तु अन्त में दुःख ही भोगते हैं, यही अज्ञान की महिमा है।

आश्चर्य की बात है कि बिना प्रयत्न के जो देह, जो इन्द्रियाँ अथवा मन बुद्धि आदि अथवा जो माता पिता आदि सम्बन्धी हमें मिले हैं उन सबको अज्ञान में हम अपना मान रहे हैं; यह सब कुछ जिसका है, अथवा जिससे मिला है उसे नितान्त भूल ही गए हैं। अज्ञान में किसी भी प्रकार की शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना उसका दुरुपयोग है। उसे अपनी ही रुचि पूर्ति में लगाना भोग है। ज्ञान में उसके द्वारा दूसरों का हित करना सदुपयोग है।

अज्ञान में हम अनेकों मनुष्य प्राप्त समय को तथा शक्ति को, अपनी मानकर व्यर्थ अनर्थ में नष्ट करते रहते हैं, कहीं कहीं पर अज्ञान में अपनी मानकर भोग करते रहते हैं, कहीं कहीं बौद्धिक योग्यता द्वारा उसका उपयोग करते हैं, हममें से कोई विरले ही विवेकी, अपना कुछ भी न मानकर, सब कुछ को समर्थ दाता का जानकर, सेवा में सदुपयोग करते हैं। हम सभी साधकों को सदुपयोग के लिये सजग सावधान रहना चाहिये, किन्तु प्रमादवश स्मरण नहीं रहता तब प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए।

अज्ञान में मन एक आश्रय को छोड़ता है, तो दूसरे आश्रय में अटक जाता है। एक रूप छूटता है, तो दूसरे रूप को पकड़ लेता है। परिवार के रूपों से विरक्त होता है तो सन्त महात्मा गुरु के रूप में आसक्त हो जाता है, मन के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है उसी को पकड़ लेता है।

यह गुरु निर्देश है कि परमात्मा के पहले तुम कहीं बीच में न ठहरो। जो बीच में ठहर जाता है वही मन भोगी बना रहता है, जो परमात्मा में पहुँच जाता है वही योगी हो जाता है। भोगी के सुख का अन्त दुःख में होता है।

और योगी के दुख का अन्त परमानन्द में होता है। सुख क्षणिक है, आनन्द अखण्ड है। आनन्द में शान्त हुए बिना कहीं भी विश्राम नहीं मिलता।

यदि तुम विचारवान हो तो देख लो कि जो सीढ़ी ऊपर चढ़ने में सहायक है वही सीढ़ी नीचे की ओर देखने वाले पथिक के लिये उन्नति, सद्गति में बाधक है। इसी प्रकार जो शुभ कर्म, जप, कीर्तन, पूजा पाठ, सत्चर्चा, सन्त संग, उन्नति सद्गति में सहायक हैं वही मोह लोभ अभिमान एवं कामना के वशीभूत होने पर बाधक है। जो ज्ञान परमगति मुक्ति में साधक है वही अहंकार की सीमा में बाधक है।

हमें जो कुछ अपने शरीर के साथ बार बार दिखाई देता है, अथवा जो कुछ हम सुनते रहते हैं वही हमारा ज्ञान बन गया है परन्तु यह ज्ञान नहीं है। हमने मान लिया है कि हम अनेकों वस्तुओं तथा व्यक्तियों को जानते हैं परन्तु यह झूठा भ्रम है। हम इस देह के विषय में भी नहीं जानते हैं। इस देह में हम कहां हैं, क्या हैं, क्या रंग है, क्या वजन है—यह कुछ भी हमें ज्ञात नहीं है, फिर भी हम लोग परस्पर अपना परिचय देते हुए अपने को यथार्थ ज्ञानी मानते चले आ रहे हैं। हम अज्ञान को ही स्वीकार किये हुए हैं।

जब तक कोई बालक कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ यह वस्तु क्या है? यह व्यक्ति कौन है? तब तक बालक सत्य बोल रहा है। वही बालक, विद्वान होने पर वृद्ध होने पर कहता है कि मैं इतनी उम्र में इस दुनिया को तथा हजारों वस्तुओं व्यक्तियों को जानता हूँ, तब वह नितान्त झूठ बोल रहा है क्योंकि वह जानता नहीं है केवल सुन सुनकर मानता चला आ रहा है।

हम लोग अनेकों साधक इसी प्रकार बालक से वृद्ध बनकर ज्ञान के अभिमानी बन रहे हैं अब अपने अज्ञान को समझना चाहिये।

हमें समझाया गया है कि–

अज्ञान में जिस भूमि को धन को तुम अपनी सम्पत्ति मान रहे हो उसे करोड़ों जन अपनी मान चुके हैं और आगे तुम्हारा अधिकार न रहने पर करोड़ों जन मानते रहेंगे। तुम कितना ही मेरा मेरी कहते रहो परन्तु तुम्हारा किसी वस्तु व्यक्ति पर अधिकार नहीं है। संसार में दृश्य अदृश्य जो कुछ भी है वह सर्व परमात्मा का है। यह मेरा तेरा किसी का नहीं है। तुम कुछ भी बनते रहो परन्तु रह न सकोगे, वास्तव में यह कुछ भी तुम नहीं हो, कुछ भी तुम्हारा नहीं है, यह सब अद्भुत खेल चल रहा है केवल चिद्विलास चल रहा है, जीवन धारा में 'मैं' और 'मेरा' एक भवँर की भांति चलता है, अपने आप भवँर पड़ता है, अपने आप टूटता है।

भवँर की अर्थात् 'मैं' की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है इसीलिये गुरु निर्णय इसे मिथ्या कह देती है। जितना तुम शान्त होते जाओगे, ढीले होते जाओगे उतना ही भवँर का वेग मिटता जायेगा। 'मैं मेरा' का सम्बन्ध टूटते ही जो है वही सत्य है।

हमें समझाया गया है कि–

जब तुम अशान्त होते हो, भयातुर होते हो तथा चिन्ताकुल होते हो तब समझ लेना कि तुम अज्ञान में ग्रहण के परिणाम को भोग रहे हो। जब तुम अनायास ही शान्त होते हो, अभय रहकर चिन्ता से मुक्त होते हो तब

समझना चाहिये कि प्रभु की कृपा से तुम्हें ज्ञान रूपी आलोक में दर्शन की स्थिति सुलभ हो रही है। सत्य के दर्शन में ही समता है, शान्ति है।

अज्ञान में सदा काम ही काम सूझता है, विश्राम मिलता ही नहीं। ज्ञान में दर्शन होने पर सर्वत्र राम ही राम और राम में नित्य विश्राम ही विश्राम है, कहीं काम है ही नहीं। समस्त कर्म प्रकृति द्वारा होते दीखते हैं।

अज्ञान में जहां तक ग्रहण चलता है वहां तक असत् अनित्य का संग रहता है। ज्ञान में जिन्हें दर्शन हो जाता है वहां सर्वत्र सत्संग ही होता रहता है। अज्ञान में ग्रहण के मोहवश तमोगुणी तथा रजोगुणी श्रद्धा होती है। सतोगुणी श्रद्धा ही ज्ञान योगी बनाती है।

जब तक अज्ञान का दुःख पूर्ण नहीं होता तब तक ज्ञान प्राप्ति के लिये जो तप त्याग करना चाहिये वह करने में तत्पर रहना कठिन प्रतीत होता है।

अज्ञान का दुःख इसीलिये पूर्ण नहीं होता क्योंकि हम लोग ग्रन्थ पढ़कर या ज्ञान की चर्चा सुनकर वेदान्त का अध्ययन करते हुए ज्ञानी बन जाते हैं और अज्ञानी जन हमें ज्ञानी मानकर भोग देने लगते हैं इसीलिये ज्ञानाभिमानी बनकर ज्ञान की पूर्णता का प्रयास नहीं करते।

गीता के मतानुसार जब तक साधक विद्वान, कहीं मान चाहता है, मान धन के लिये दम्भ करता है, किसी प्रकार तन से वाणी से मन से हिंसा करता है, क्षमाशील न होकर क्रोध करता है, सरलता के विरुद्ध करता है, गुरुसेवा में तत्पर नहीं रहता, पवित्र नहीं रहता, स्थिर नहीं रहता, मन की ही पूर्ति करता रहता है, विषयों से वैराग्य नहीं होता, अहं के आकार बनाते हुए अहंकारी रहता है, जन्म मृत्यु बुढ़ापा व्याधि दुःख को पहले से ही नहीं देखता, कर्मों में

वस्तुओं व्यक्तियों में आसक्त रहता है, भूमि भवन परिवार में लम्पट रहता है, जो अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति में समस्थित नहीं रह पाता, जो परमात्मा में ही प्रीति को नहीं लगा पाता, जो एकान्त सेवी न होकर प्रपंच में सुख मानता है, जो आत्मज्ञान के विपरीत सांसारिक ज्ञान में व्यस्त रहता है वह अज्ञान में ही जीवन बिताता है।

राग द्वेष के रहते चित्त अशुद्ध ही रहेगा।
ममता रहते राग द्वेष नहीं नष्ट होगा।

ममता छोड़कर सेवा करो तभी सुख दुःख के बन्धन से मुक्त हो सकोगे।

ममता रखकर सेवा करोगे तब सुख दुःख के भोगी ही बने रहोगे, अतः ममता छोड़ दो।

ममता छोड़ने के लिये जो कुछ तुम्हारे साथ तन मन सम्बन्धी आदि हैं उन्हें अपना न मानो, सब कुछ प्रभु से मिला हुआ, प्रभु का ही जानने के अभ्यासी हो जाओ। जब तक अपनी वस्तु मानोगे तब तक प्रेम नहीं होगा। यदि तुम परमात्मा की निरन्तर उपस्थिति के प्रति सजग नहीं हो तब मूढ़ता में अटके हुए मन को देखो। तन में धन में परिवार में मन का अटक जाना ही मूढ़ता है। मूढ़ता में ही पराधीनता है। पराधीन व्यक्ति को पराधीनता ही मारती है।

पद उपाधि का अभिमानी भी घोर पराधीन होता है वह अपने को मनुष्य मानना भूल जाता है, हर समय पदाधिकारी ही बना रहता है।

तुम पद के अनुसार कर्त्तव्य पालने से जब अवकाश पाओ तभी मनुष्य होकर सभी से मिलो, जैसे कि कोई भी वैद्य, सभी गरीब अमीर रोगियों से मिलता है।

तुम विचार, विवेक पूर्वक स्वयं देखोगे कि भेद–भाव में ही भय उत्पन्न होता है, भयवश ही हिंसात्मक कर्म बनते हैं। दूसरे को दूसरा मानने से हिंसा आरम्भ होती है दूसरे में जो अन्तर है वह देह का ही अन्तर है, चेतना का अन्तर नहीं है।

दूसरा कोई है ही नहीं, सब अपने परम प्रभु के ही हैं, अतः सब अपने ही हैं–ऐसी धारणा स्वर्ग का द्वार खोल देती है।

जब तक किसी वस्तु अथवा व्यक्ति पर अपना अधिकार मानोगे, स्वयं मालिक बने रहोगे तब तक हिंसा से नहीं बचोगे। जब तुम सब कुछ के स्वामी परमात्मा ही हैं–ऐसा देखोगे तब लोभ–मोह अभिमान से रहित होकर प्रेम से पूर्ण होकर आनन्द का आस्वादन करोगे।

जो अविवेकी, मिली हुई देहादि वस्तुओं का स्वामी बनता है, वह अदृश्य रूप से उन्हीं वस्तुओं, व्यक्तियों का दास होता है।

जिसके साथ जितनी अधिक सम्पत्ति है, जितना अधिक सामान है, उतनी ही अधिक उसकी दासता है, चिन्ता है, उसके छूटने पर उतना ही दुःख है। जो ममता रहित है वह दुःख रहित है।

यह भगवान का उपदेश है कि तुम अपने व्यक्तिगत चेतन को परम चेतन में विलीन कर दो। मन को आत्मा से किंचित भी पृथक न मानो।

आत्मा के रूप में परमात्मा को सर्वत्र और स्वयं में नमस्कार करते रहो। जो भी कर्म हो उसे ज्ञान में प्रकृति के गुणों द्वारा होते देखो। कर्त्ता न बनो, परन्तु निरन्तर स्मरण रहे तभी योग सिद्धि हो सकती है।

हमें यह भी समझाया गया कि ज्ञान में देखो तो अभी ज्ञात होगा कि तुमने अज्ञान को ही ज्ञान मान लिया है। उसी माने हुए ज्ञान में धन को, पद को, अधिकार को तथा देह की अवस्थाओं को रखकर मेरा–मेरी कहते जा रहे हो।

अब ज्ञान में देखो, तो जो कभी सुख के अन्त में दुखी बनाता है, जो हंसने वालों को रुलाता है, वह अज्ञान में माना हुआ ज्ञान ही है। अब ज्ञान में इस अज्ञान को जान लो।

आत्मा को जान लेना ज्ञान में देखना है। ज्ञान में देखना ही आत्मा को जानना है और आत्मा को जान लेना ही परमात्मा को जान लेना है। आत्मा–परमात्मा की एकता को जान लेना ही अपने में ही परमात्मा को पा लेना है। अपने में परमात्मा की निरन्तर अनुभूति ही अभेद भक्ति है।

अभेद भक्ति में ही निरन्तर आनन्द है। आनन्द प्राप्त करने योग्य नहीं है क्योंकि वह प्राप्त ही है।

यह भी गुरु सन्देश है–ज्ञान को खोजने का, कहीं से पाने का प्रयास न करना, इस ज्ञान को ग्रन्थों में, शास्त्रों में न खोजना–बस इतना ही देखना कि स्वयं की चेतना ही ज्ञान है। यह ज्ञान वही है जहां केवल तुम हो और तुम्हीं ज्ञान स्वरूप हो, अतः किसी अन्य का संग न करो।

यह भी गुरु निर्णय है कि तुम्हारी मान्यता के कारण ही प्रभु–परमात्मा दूर लग रहा है। जीवात्मा और परमात्मा के मध्य में मान लेने की दीवारें हैं, ज्ञान के पर्दे हैं। ज्ञान जितना भी होगा वह सीमित का ही होगा लेकिन जिस ज्ञान में सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान स्वरूप परमात्मा अखण्ड है। उसी में तुम अपने को देखो, करो कुछ नहीं।

जो भी महामहिम महत्वपूर्ण है वह सरल है, जो सरल है–सुगम है, वह क्रिया से नहीं प्राप्त होतां वह न करने की स्थिति में सुलभ होता है। परमात्मा की योगानुभूति के लिये केवल जागरण की आवश्यकता है, अक्रिया में ही पूर्ण जागरण है।

हमें समझाया गया है कि नित्य–निरन्तर जो अखण्ड चेतन है अर्थात् जो जीवन है, वही परमात्मा है।

मनुष्य जीवन के बीच में बुद्धि जाग्रत होती है वह जीवन के रहस्य को नहीं जान सकती। लहर सागर की गहराई का पता नहीं लगा सकती।

हम साधकों को अपने अज्ञान का बोध हो जाये यह बहुत बड़ी सफलता है।

यह गुरु निर्देश है कि श्रम करके यदि तुम थक रहे हो तो अब मौन होकर शान्त रहकर नित्य प्रिय चेतन तत्व में विश्राम करो। तुम प्रत्येक परिस्थिति में मौन, शान्त रह सकते हो।

गीत

जग में सत्संग बिना मानव सम्मति गति पाना क्या जानें।
आसुरी प्रकृति के जो प्राणी सत्संग में आना क्या जानें।।
जीवन में जितने दुख दिखते वह निज दोषों के कारण ही।
पर जिसमें इतना ज्ञान न हो वह दोष मिटाना क्या जानें।।
उन्नति का साधन सेवा है, इससे ही आत्म शुद्धि होती।
पर लोभी अभिमानी कामी सेवा को निभाना क्या जानें।।
गांजा, अफीम, या भंग, चरस, सिगरेट शराब पीने वाले।
व्यसनों को जो नहीं छोड़ पाते, मन वश में लाना क्या जानें।।
जो स्वयं ईर्ष्या काम क्रोध की अग्नि लिये फिरते उर में।
जब अपनी लगी बुझा न सके वह पर की बुझाना क्या जानें।।
आलसी विलासी धर्म विमुख इन्द्रिय सुख–लोलुप अज्ञानी।
जब बिगड़े आप ही, दूसरों की बिगड़ी को बनाना क्या जानें।।
जो तन को मल–मल धोते हैं, भीतर मन जिनका काला है।
वह मोही गोरेपन के, मन का मैल छुड़ाना क्या जानें।।
वह साधक भी धोखे में हैं करते प्रपंच का जो चिंतन।
यदि प्रेम नहीं तब प्रियतम प्रभु में ध्यान लगाना क्या जानें।।
जो पहुँचे हुए सन्त जन हैं, उनसे पूछो पथ की बातें।
जो बारह बाट भटकते हैं, वह मार्ग दिखाना क्या जानें।।
दुख में जो त्यागी हो न सके, बन सके न सुख में जो उदार।
वह पथिक प्रेममय प्रियतम से तन्मय हो जाना क्या जानें।।

———

यदि चाहो निस्तार, भजो नारायण नाम।।
सब समेट कर प्यार, भजो नारायण नाम।।
नारायण ही संकटहारी, प्राणिमात्र के हृदय बिहारी।

आश्रय सभी प्रकार, भजो नारायण नाम।।
परम सुहृद करुणा के सागर, ज्ञान स्वरूप सकल गुण आगर।
दाता परम उदार, भजो नारायण नाम।।
चलते फिरते रोके गाके दुख में सुख में मन समझा के।
कभी पुकार पुकार, भजो नारायण नाम।।
वह चिन्मय है इस जड़ तन में वही अचल है चंचल मन में।
पथिक स्वभाव सुधार भजो नारायण नाम।।

————

समझ की अपूर्णता में अन्ध प्रयास

पूर्णता जीवन की मांग है। पूर्णता प्रयत्न वही करता है जो अपूर्णता से दुखी होता है। मोही, लोभी, कामी, अभिमानी सभी अपूर्णता से दुखी होते हैं लेकिन संसार में किसी लोभी, मोही, अभिमानी कामी को संसार के द्वारा पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकी—यह ज्ञान में देखने वाले ही जानते हैं। उन ज्ञान में देखने वाले महापुरुषों का सन्देश आदेश निर्देश कोई लाखों मनुष्यों में दो चार दस व्यक्ति ही सुनते समझते हैं और वही जीवन की अपूर्णता का दुःख मिटाने के लिये धर्म की शरण लेते हैं, सत्य की खोज करते हैं, गुरु का आश्रय, भगवान के नाम का आश्रय लेते हैं। उन्हें ही परमार्थी साधक कहा जाता है।

जगत में देहार्थी, सुखार्थी, विद्यार्थी, धनार्थी, भोगार्थी, मानार्थी, नामार्थी करोड़ों मनुष्य हैं उन्हीं के बीच कहीं—कहीं परमार्थी साधक भी मिलते हैं, वे ही परमार्थ सिद्धि के लिए विविध साधनों का आश्रय लेते हैं।

प्रत्येक मनुष्य जो कुछ सुनता है वही बोलता है और जैसा अपने साथ वालों को करते देखता है वैसा ही करने लगता है। विद्यालयों में भी बालकों को आरम्भ में रटाया जाता है फिर पढ़ाया जाता है, ऊँची कक्षाओं में कुछ सिखाया जाता है तथा किसी विषय को लेकर समझाया जाता है। लेकिन दर्शनीय क्या है? और दर्शन की दृष्टि कैसे खुलती है? यह विद्यालयों में विषय नहीं है।

सुसंग सुसंस्कार से प्रेरित होकर आस्था विश्वास और श्रद्धाभाव के साथ लाखों भारतीय नर नारी बालक वृद्ध तीर्थों में मन्दिरों में अपनी अपनी मान्यता एवं स्वीकृति के अनुसार भगवान के तथा देवी देवताओं के दर्शन करने में बहुत अधिक श्रम करते हैं, धन का व्यय भी करते हैं और अब तो नये नये गुरु मन्दिर, मानस मन्दिर, गीता भवन, सत्संग भवन, बन गए हैं इनमें भी दर्शक जनों के मन को आकर्षित करने के लिये देवी देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं जिससे कि दर्शक सन्तुष्ट हों, सम्मोहित हों और कुछ भेंट पूजा चढ़ाने की उदारता जाग्रत हो।

शब्दो प्रवचनों का सर्वसाधारण अशिक्षित जनों पर प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन चित्रों का मूर्तियों का प्रभाव सभी आबाल वृद्धों पर पड़ता है। किसी उपन्यास पढ़ने से जो प्रभाव नहीं पड़ता वह उसकी फिल्म देखने का पड़ता है।

अश्रद्धालु जन मूर्तियों अथवा चित्रों को देखने जाते हैं और श्रद्धालु, मन्दिरों में चित्रों अथवा मूर्तियों के दर्शन करने जाते हैं। चित्रों अथवा मूर्तियों को देखने वाला अहंकार, अनुकूल को देखकर सम्मोहित होता है और

प्रतिकूल को देखकर आलोचक निन्दक होता है। इसके विपरीत श्रद्धा भाव से चित्रों तथा देव मूर्तियों का दर्शन करते हुए, विनम्र अहंकार प्रार्थी बनकर दैवी सम्पदा के द्वार में प्रवेश करता है। अश्रद्धा में देखना होता है। श्रद्धा के द्वारा दर्शन होता है।

खजुराहो में जो मन्दिर बना है उसमें मन्दिर की बाहरी दीवारों में जो मूर्तियां बनी हैं उन्हें भोगासक्त कामी मन बड़ी तत्परता से देखता है और भीतर भावुक श्रद्धालु हृदय से मूर्ति में दर्शन करता है। मन लगाकर नेत्रों द्वारा मूर्ति को देखा जाता है। बुद्धि युक्त होकर विचार द्वारा मूर्ति को जाना जाता है और ज्ञान प्रकाश में प्रज्ञा दृष्टि द्वारा मूर्ति में दर्शनीय तत्व का दर्शन होता है।

विषयों का रागी मन, बाहर देखने सुनने के सुख में आसक्त होता है। प्रेमपूर्ण हृदय, भीतर शान्ति आनन्द में नित्य तृप्त रहता है।

इन्द्रिय पथ से बहिर्गामी मन के पीछे जब बुद्धि से विचार किया जाता है तभी अहंकृतियों के परिणाम का दर्शन होता है।

परिणाम दर्शन के लिये बुद्धि दृष्टि का उपयोग अनिवार्य है और सत्य दर्शन के लिये ज्ञान प्रकाश का अनावृत होना आवश्यक है। अपनी बाल्यावस्था की बात है—इस शरीर के जन्म स्थान से छः मील दूर हनुमान जी के मन्दिर में वार्षिक मेला लगता था, गाँव के अनेकों दर्शकों के साथ बहुत उल्लास पूर्वक मैं भी मेले में पहुँचा, बडी भीड़ें थीं, गर्मी के दिन थे, एक कूप था सैकड़ों नर नारी अपने पात्रों से पानी पी रहे थे, बड़ी कठिनता से मुझे पानी पीने को मिला, भीड़ के धक्कों से साथी भी छुट गए, बड़े श्रम के

पश्चात् दूर से दर्शन हो पाये। भीड़ के बीच में दबकर बिना पैरों से चले ही मन्दिर तक पहुँचा गया और उसी प्रकार भीड़ के द्वारा कुछ दूर आकर अपने पैरों से चलने का अवसर सुलभ हुआ। मेरे पास जो मेले के लिये पैसे मिले थे, मैं विचार करने लगा कि इस धन से यदि कोई खिलौना लूँ तो कुछ ही दिनों में टूट जायगा, यदि मिठाई खरीदूं तो क्षण मात्र स्वाद का सुख मिलेगा फिर देहाती मेले की मिठाई में सैकड़ों मक्खियाँ बैठी थीं यह देखकर मिठाई लेने से मन हट गया। फिर विचार द्वारा बुद्धि ने निर्णय दिया कि कोई ऐसी पुस्तक लेनी चाहिये जिसमें ज्ञान भक्ति की बातें हों। अपनी समझ के अनुसार दो पुस्तकें लेकर सन्ध्या के प्रथम ही घर के लिये चल पड़ा और रात होते होते घर पहुँच गया। नींद आने के पहिले यही सोचता रहा कि आखिर मेला है क्या? एक जनसमूह एकत्रित था कुछ दुकानें थीं, भीड़ के धक्के थे, थकावट के अतिरिक्त अपने को लाभ क्या मिला? लेकिन यह सोचकर मैं सन्तुष्ट था कि मुझे यह ज्ञान मिल गया कि मेला में कुछ नहीं मिलता और ज्ञान से मुझे मेला देखने से मुक्ति मिल गई।

मन्दिर में हनुमान जी के दर्शनों से शान्ति तो नहीं मिली लेकिन बाल्यकाल में हनुमान चालीसा के पाठ करने से अवश्य विश्वास के अनुसार लाभ होता रहा। विश्वास तो सुने हुए के अनुसार अन्धेरे में पकड़ने के समान होता है उस पकड़े हुए को बुद्धि से जानने पर दर्शन का द्वार मिल जाता है।

विश्वास के पीछे विचार द्वारा यही ज्ञात हुआ कि श्री हनुमान जी अथवा अन्य देवी देवताओं का मन लगाकर बुद्धि स्थिर करके ध्यान करने पर उनकी दया दृष्टि से उनकी शक्ति मन बुद्धि में भर जाती है उसी से संकल्प पूर्ति में सफलता मिलती है।

कोई विरले ही साधक भाव देह द्वारा बिखरी हुई प्रीति को समेटकर भगवान के रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। सूरदास, मीरा, तुलसीदास आदि कुछ भक्तों को साकार दर्शन भी हुए हैं।

जब तक विनाशी रूपों में ममता रहती है तब तक प्रेम भगवदाकार नहीं हो पाता।

प्रेम एक आलौकिक तत्व है। तत्व उसे कहते हैं कि जिसका कोई आकार नहीं होता, इसीलिए वह किसी भी मन चाहे आकार में दर्शित हो सकता है।

स्थूल देह, काम शरीर, मनस शरीर, विज्ञानमय शरीर के पीछे आत्म तत्व आत्म शरीर है, उसी शरीर में भगवान् के दिव्य साकार रूप के दर्शन प्रेमी भक्त कर पाते हैं।

बाल्यावस्था, किशोरावस्था से ही जो प्रभु प्राप्ति के लिए साधना करते हैं, वही अन्तर देहों का भेद जान पाते हैं। वृद्धावस्था में न देह की सेवा हो पाती है, न ही देव की।

भक्त प्रहलाद अपने साथी बालकों को समझाते हैं कि वृद्धावस्था में तुम कुछ न कर पाओगे इसीलिये आसुरी भाव से छूट कर सभी प्राणियों पर दया करो, सबकी भलाई करो, तब तुम भगवान को सन्तुष्ट कर सकोगे। (श्रीमद्भागवत)

एक सज्जन ने जेल में रहते हुए गीता पढ़ी उसने यह प्रश्न उठाया कि ईश्वर धर्म संस्थापनार्थ अवतार लेता है, यदि यह सत्य है तो आज इतना

अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार बढ़ रहा है तब भी ईश्वर क्यों नहीं अवतरित होता?

प्रायः कई लोग ऐसी आशंका करते हैं, उन्हें यह पता नहीं है कि ईश्वर केवल दुष्टों के नाश के लिए ही अवतार नहीं लेता क्योंकि दुष्टों का नाश तो दुष्टों की दुष्टता द्वारा ही हो जाता है।

ईश्वर तो भक्तों एवं गो ब्राह्मण साधु सज्जनों की रक्षा के लिए अवतरित होता है।

इस समय राक्षस, दानव, दुष्ट बहुत बढ़ गये हैं—ऐसा निर्णय भी पक्षपातपूर्ण हो सकता है। हमारी अनुकूलता में जो बाधक बनता है, वही हमें दुष्ट दानव दीखता है, लेकिन वह भी किसी के अनुकूल है। जिस समुदाय के वह अनुकूल है उसे तो अति प्रिय तथा बहुत सज्जन ही प्रतीत होता है।

यथार्थ में ईश्वर ही अपने अवतरण के समय को जानता है। मूढ़ बुद्धि वाला मानव नहीं जान सकता।

धर्म की संस्थापना के लिए भगवान जिनके मध्य में अवतार लेते हैं उन्हें भक्त कहते हैं।

साधना की पूर्णता के लिए जिस साधक के जीवन में जब भगवान दिव्य गुण एवं दिव्य ज्ञान और निष्काम प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उसे सन्त कहते हैं। यह गुरु निर्णय है कि तुम अपने अन्तर में भगवान के अवतरित होने की, शान्त मौन होकर प्रतीक्षारत रहो। निरन्तर सजग रह कर देखते रहो

तुम्हारे शान्त एवं मौन रूपी यज्ञ को लोभ अहंकार मदादि राक्षसी आसुरी वृत्तियाँ भ्रष्ट न कर दें।

बहुत कुछ दानवी राक्षसी शक्तियों से बचते रहने पर भी अंत में मत्सरता से बहुत ही सावधान रहो। मत्सरता रहित होने पर सन्त पद प्राप्त होता है। चौदह सौ वर्ष के सिद्ध योगी चांगदेव भी कभी सन्त ज्ञानदेव महाराज के सामने मत्सरता के कारण पराजित हुये थे। सन्त ज्ञानदेव में भगवान, समग्र धर्म से अवतरित थे, लेकिन चांगदेव में केवल कुछ सिद्धियों के रूप में प्रभु अवतरित थे, परन्तु भागवद धर्म रूप में अवतरित नहीं थे। इसीलिये उन्हें भगवत्–धर्म अवतरण की साधना करनी पड़ी।

भगवान जिन भक्तों की एवं साधु ब्रह्मविद् ब्राह्मण कहीं होंगे अवश्य ही परन्तु खोजने पर प्रायः दिखाई नहीं देते। प्रायः हम अपने आप ही अपने को भक्त अथवा ब्राह्मण मान रहे हैं। हमारे आसपास ऐसे बहुत लोग हैं जो अपने आपको साधु, संन्यासी, हंस, परमहंस, जगतगुरु, त्यागी, तपस्वी, सिद्ध, योगिराज घोषित कर रहे हैं।

अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिये हम लोगों ने अपने–अपने दल भी बना लिये हैं। ईश्वर हमारे विषय में क्या निर्णय देता है, इसकी कोई अपेक्षा नहीं है। प्रत्युत हमारे निर्णय ईश्वर को मान्य हैं–इस प्रकार विश्वास दिलाते हैं।

ईश्वर का अवतार बने हुए साधु संन्यासी ब्राह्मणों के लिये नहीं होता। फिर भी ईश्वर अपनी करुणा कृपा से प्रत्येक साधु सन्यासी ब्राह्मण हंस परमहंस गुरु जगतगुरु के भीतर सुमति, सुबुद्धि एवं दिव्य ज्ञान आलोक के

रूप में प्रगट होकर उस दुष्टता तथा दुर्गति एवं अज्ञान अन्धकार का नाश अवश्य ही करता है, जिसे कोई विरले ही ज्ञान चक्षु से देख पाते हैं।

जगत में ईश्वर अवतार की आवश्यकता ईश्वर ही जानता है इस समय तो हमारे अन्तःकरण में ईश्वर के अवतरण की आवश्यकता है।

संसार के सभी प्राणी जहां कहीं दुखी होते हैं उसका एकमात्र कारण किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता ही है। कोई पशु पक्षी आदि जन्तु दुखी होने पर भी दुःख के कारण को नहीं समझ पाते क्योंकि उनके साथ समझ सकने योग्य बुद्धि विकसित नहीं है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि बुद्धिमान और कभी कभी विद्वान मनुष्य भी दुखी होते हैं परन्तु दुःख के मूल कारण को नहीं देख पाते।

आज लाखों मनुष्य धन की कमी से अथवा बल की कमी से, पदाधिकार की कमी से या किसी संयोग की एवं भोग सामग्री की कमी से दुखी हैं इसीलिये अपनी अपनी कमी को दूर करने के लिये यथाशक्ति सभी प्रयास कर रहे हैं। सारी भागदौड़ किसी न किसी कमी को पूर्ण करने के लिये हो रही है लेकिन इतिहास में धन के द्वारा जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी मनुष्य आदत के अनुसार अन्ध प्रयास करता ही जा रहा है।

गीत

तुम्हीं को हे आनन्दघन चाहता हूँ।
जगत का मैं कोई न धन चाहता हूँ।।
न रह जाय मुझमें कहीं मोह माया।

प्रभो तुममें तल्लीन मन चाहता हूँ।।
वही अब करूं जो कि तुम चाहते हो।
मैं चाहों का अपनी दमन चाहता हूँ।।
जहां चित हो चंचल जगत के सुखों में।
वहीं पर मैं इसका शमन चाहता हूँ।।
मिटे जिस तरह से यह अब दुःख बन्धन।
मैं ऐसा ही साधन भजन चाहता हूँ।।
नहीं दिख रहा और कोई सहारा।
पथिक मैं तुम्हारी शरण चाहता हूँ।

———

सबके लिये खुला जो, यह द्वार ही ऐसा है।
कोई भी चला जाये, दरबार ही ऐसा है।।
दुनिया में होशवालों का है यही ठिकाना।
पर सब नहीं समझेंगे संसार ही ऐसा है।।
दोनों यहां कठिन है रुकना या चले जाना।
कुछ मार ही ऐसी है कुछ प्यार ही ऐसा है।।
भावानुसार अपने भगवान भी बन जाते।
जैसे के लिये तैसा व्यवहार ही ऐसा है।।
जिसके बिना जीवन में सत्–शान्ति नहीं मिलती।
दिखता यहां जीवन का, आधार ही ऐसा है।।
छुट जाते जहां बंधन, भव दुख भी मिट जाते।
होता यहां पथिक का उपचार ही ऐसा है।।

———

दान की पूर्णता

पुण्य की पूर्णता में दान का पूर्ण विवेक होना अनिवार्य है। प्रायः सहस्रों दानाभिमानियों को दान की अपूर्णता का ज्ञान ही नहीं है।

दान करना एक दैवी वृत्ति है, लेकिन दान के पीछे अभिमान, लोभ तथा बदले में अधिक कुछ पाने की कामना आदि आसुरी राक्षसी वृत्तियों के प्रभाव से दान दूषित हो जाता है।

दान तो कोई कामी भी करता है, लोभी भी करता है, अभिमानी भी करता है, मोही और भयातुर भी करता है, किन्तु, प्रेम से तृप्त हृदय द्वारा जो मान का दान, प्यार का दान, अधिकार का दान, अन्न वस्त्र धन स्वर्ण आदि वस्तुओं का दान होता है वही दान सर्वोत्तम दान है। प्रेम में जो दान होता है वहाँ दान का भान नहीं रहता क्योंकि दानी ही नहीं रहता।

प्रेम से तृप्त प्रेमी को अपने साथ जो भी कुछ दीखता है वह अपना नहीं दीखता, सब कुछ लेने वाले का ही दीखता है अथवा सब कुछ परमेश्वर का दिया हुआ दीखता है।

हम अनेकों साधक जो कुछ दान करते हैं उसे राक्षसी एवं दानवी आसुरी शक्तियाँ अपना भोग बना लेती हैं।

भगवान ने गीता में देशकाल पात्र का विचार करके दान देने की सम्मति दी है।

दान करने वालों को सावधान किया गया है कि यथाशक्ति जब किसी को कुछ दो तब श्रद्धा से ही दो। अश्रद्धा से दिया हुआ, अपमान पूर्वक दिया हुआ, दिखावे के लिये दिया हुआ, दान व्यर्थ जाता है। जो देकर उसका वर्णन करता है, रोष आवेश में जो दिया जाता है, देकर पश्चाताप किया जाता है, वह दान भी व्यर्थ है। दम्भपूर्वक प्राप्त करके, झूठ बोलकर जो धन लिया जाता है, ब्राह्मण से जो धन लिया जाता है, चोरी करके जो धन लिया जाता है, कलंकी से जो धन लिया जाता है, उस धन का दान भी व्यर्थ है। जो दान पतित ब्राह्मण को दिया जाता है, वेदविहीन को दिया जाता है, याचक को दिया जाता है, संस्कारहीन को दिया जाता है, ससुराल में रहने वाले को दिया जाता है, कृतघ्नी तथा उपपातकी को दिया दान व्यर्थ है। जो स्त्री के वश में रहता है, वेद बेचता है, राजा का सेवक, ज्योतिषी, शूद्र स्त्री के संगी को, अस्त्र शस्त्र के व्यापारी को, नौकर को, पुरोहित को, वैद्य को भी दान व्यर्थ है। इनको दिया हुआ दान राक्षस पिशाच लूट लेते हैं।

ज्ञान दृष्टि से यह भी दर्शन करो कि कभी–कभी जब अल्पदान करके तुम्हें प्रसन्नता होती है तब उन्हें कितना आनन्द होता होगा जो सर्वदान के साहसी है। सर्वदान का आनन्द अल्पदान थोड़ा सा दान करने वाले नहीं जान सकते।

यदि तुम्हारे अधिकार में धन नहीं है, भूमि भवन नहीं है, तब तुम इन सब दानों की चर्चा न करके मान का तथा आश्रित जनों को प्यार का ही दान करते रहो। मान के दान में भी जो कंजूस हैं वे बहुत ही मतिहीन व्यक्ति हैं। अहंकार को मान देने से बहुत तृप्ति होती है इसीलिये मान चाहने वालों को मान तो देते ही रहो क्योंकि जो दोगे वही पाने के अधिकारी हो जाओगे।

जो देने योग्य को देने का साहस नहीं करता, वह पाने का अधिकारी नहीं होता।

तुम सावधान होकर प्रभु कृपा से जो कुछ स्वतः ही तुम्हें मिला है जिसे तुमने बनाया नहीं है उसका सदुपयोग करते रहो। सदुपयोग करना ही दाता से और अधिक पाने का उपाय है।

ध्यान से देखो! तुम धन के पूरे मालिक नहीं हो।

जितने धन पर देवता का अधिकार होता है, उतना ही तुम दान कर पाते हो और जितनी सम्पत्ति पर यक्ष का अधिकार होता है, वह नहीं दे पाते। राक्षस यक्ष दान करते–करते रोक लेता है वह कम–से–कम देने की प्रेरणा देता है, लेकिन देवता अधिक से अधिक देकर सन्तुष्ट होता है। देवता और राक्षण मनुष्य के साथ रहकर भोग कर रहे हैं।

भगवान ने देने वालों की भावनानुसार उत्तम, मध्यम, अधम, तीन प्रकार का दान निर्णय किया है। जो कुछ आपके निर्वाह से बचा रहता है उसे समय के अनुसार सुपात्र को अपना कर्त्तव्य समझ कर देते रहो।

अन्न, वस्त्र, धन का दान कर उसके बदले में कुछ भी न चाहो। किसी को तिरस्कार पूर्वक न दो। दुरुपयोग करने वालों को न दो। अभिमान पूर्वक अपनी वस्तु मान कर नहीं दो। सब कुछ यहां मिला है, यहीं छूट जायेगा–ऐसा समझ कर लोभ–रहित, ममता–रहित होकर निष्काम होकर दान करो।

किसी सुपात्र को जो कुछ दो उस पर अधिकार न जमाओ। उसे दीन–हीन न समझो। जो कुछ सद्भाव, सुविधि से दिया जाता है, वह बोने के समान होता है। प्राकृतिक विधान से स्वतः ही कई गुना बढ़कर दाता के सामने आता है।

जितना अधिक सुन्दर तुम पाने की इच्छा रखते हो उतना ही सुन्दर पदार्थों का दान करो। अधिक से अधिक दान करो। भोग कम करो।

जो देने योग्य वस्तु को तथा मान को, प्यार को, अधिकार को नहीं देता वह दूसरों से मान लेकर, प्यार लेकर, अधिकार लेकर, धन, भूमि, भवन आदि वस्तु लेकर, भोगी बनता है।

प्रभु की करुणा से सज्जन, साधु, सन्त का संयोग सुलभ होने पर सत्कर्म की, स्वधर्म की, कर्त्तव्य की, सेवा एवं दान की प्रेरणा मिलती है, यदि वह तुम्हें सुलभ हो रही है, तब तो तुम सजग रह कर देने योग्य को देते रहने में कहीं आलस्य न करो, प्रमादी, अभिमानी लोभी न बनो।

दान के लिए यदि धन नहीं है, भूमि, भवन नहीं है, परन्तु मधुर प्रिय बोलने के लिए वाणी तो है। मान देने के लिए सुन्दर शब्द तो हैं। प्रीति देने के लिए हृदय तो है। सेवा करने के लिए शरीर में शक्ति तो है। अतः बाल्यावस्था से ही तुम पुण्यों का संचय इस तन द्वारा, वाणी द्वारा, मन द्वारा कर सकते हो। लेकिन पुण्य का, पाप का तथा यथार्थ लाभ का, हानि का एवं जीवन का, मृत्यु का यथार्थ ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

प्रायः सभी में, अज्ञान से मानने वालों के संग का प्रभाव पड़ ही जाता है। ज्ञान में देखने वालों का संग नहीं मिलता, यदि मिलता भी है तो बुद्धि

की जड़ता के कारण समझाने पर भी, मोह लोभ, अभिमान और अज्ञान का ज्ञान नहीं होता।

लाखों नर–नारी संग एवं संस्कारवश अज्ञान में दान करते हैं, परन्तु ज्ञानपूर्वक दान देना नहीं जानते। भगवान का निर्णय है कि यज्ञ से दान–तप से विद्वान पावन होता है।

लोभी, मूर्ख मनुष्य भगवान के निर्णय को न मान कर तीर्थों में पण्डों को कुछ पैसे दान करते हैं, पानी में मिला हुआ दुग्ध दान करते हैं, बीस आने पैसों का गोदान करते हैं, सूत चढ़ाते हुए वस्त्र दान मानते हैं, एक बताशा या कोई छोटा फल चढ़ाकर पान सुपारी के साथ दान का संकल्प पढ़ाकर अक्षत जल दूर्वा छोड़कर ही भूमि भवन स्वर्णदान की कल्पना से अहंकार को सन्तुष्ट कर लेते हैं। श्रद्धा और शक्ति के अनुसार दान का फल होता है। वास्तव में कुटुम्ब के भरण–पोषण से जो भी अधिक बचता रहे उसी का दान करना बहुत ही हितप्रद होता है। शास्त्र–निर्णय है कि जो वस्तु साधारण हो, सड़ी–गली दूषित हो, जीर्ण हो, जो वस्तु मांगी हुई हो, जिसे किसी को लौटाना हो, जो धरोहर में रक्खी गई हो, जो वस्तु विश्वास पर छोड़ी गई हो, जिस पर किसी अन्य का अधिकार हो, जिसे देने पर कोई अधिकारी असन्तुष्ट हो सकता हो, जिसके वंशज अधिकारी हों, जिसके प्रयोग उपयोग में, जिसकी सुरक्षा में लेने वाला असमर्थ हो, जिसे पाकर कोई हिंसा कर सकता हो अथवा पाप प्रवृत्त हो सकता हो–ऐसा दान नहीं करना चाहिये।

कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर के विधान से कर्मानुसार कोई निर्धन बना है, कोई रोगी हो रहा है, कोई भिखारी भीख मांग रहा है। यदि तुम

किसी को धन देते हो, किसी की सहायता करते हो तब तुम ईश्वर के विधान का विरोध करते हो। तुम ऐसे मत वालों की बात नहीं मान लेना। कर्म की गति अति गहन है। पाप पुण्य का योग चलता रहता है। तुम जब किसी को धन दो अथवा सहायता करो तब यही समझ कर देने योग्य वस्तु को देते रहो क्योंकि उस वस्तु पर उसी का अधिकार है अथवा जो सेवा तुमने की वह उसके किसी शुभ कर्म का फल है।

किसी का मत है कि पाप कर्म का बन्धन जिस प्रकार होता है उसी प्रकार पुण्य कर्म का भी बन्धन होता है। लोहे की बेड़ी बांधती है, उसी प्रकार सोने की जंजीर भी बांधती है।

तुम सावधान होकर समझ लो क्योंकि पाप–पुण्य तभी बन्धन के हेतु बनते हैं जब अहंकार कर्ता बनता है। तुम कर्ता न बनकर दृष्टा बनो। तुम यह न समझो कि मैं दान दे रहा हूँ बल्कि यह समझ कर दो कि उसके भाग्य में है इसलिये वह ले रहा है।

शास्त्र के निर्णय अनुसार कोई लोभ से दान करता है। कोई कामना पूर्ति के लिये दान करता है। कोई लज्जावश दान करता है। कोई किसी पर प्रसन्न होकर दान करता है। कोई भयवश दान करता है। इन सभी प्रकार के दानियों में वही दानी सर्वश्रेष्ठ है जो धर्म से प्रेरित होकर दान करता है। धर्मप्रेरित दान करने वाले श्रेष्ठ पुरुष परलोक में दान का फल पाते हैं। लोभी मोही कामी अभिमानी जन, दान का फल भूलोक में ही भोग लेते हैं।

यह भी शास्त्र निर्णय है कि जो धनी होकर दान नहीं करते उनके धन पर राजा का अधिकार है, राजा कभी भी ले सकता है। यदि राजा न भी ले

तो कभी न कभी चोर डाकू ले जाते हैं, या संचित धन दुर्व्यसन की आग में नष्ट हो जाता है। इसीलिये धन पर धनाभाव से पीड़ित जनों की दान से सहायता करते रहना सौभाग्यशाली का कर्त्तव्य है।

जो देने योग्य को नहीं देता वह दरिद्र होता है। दरिद्र होकर पाप करता है। पाप के कारण नरक में जाता है, नरक से लौटने पर फिर दरिद्र होता है। (गरुण पुराण)

''अदत्त दानाच्च भवेद्दरिद्री दरिद्र भावाच्च करोति पापम्।
पाप प्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी।।''

———

गीत

जब तक तू चाहे देख ले, जग में जो सुख है असार है।
सुख से विरक्त होते ही, मिल जाता मुक्ति द्वार है।।
त्यागी ही इस पथ में जा सके, प्रेमी ही उस प्रभु को पा सके।
उसकी दया अनन्त है, सबकी वो सुनता पुकार है।।
माया में अब न भूल तू, अभिमान में न फूल तू।
जो राग रंग दीखते, कुछ ही दिनों की बहार है।।
तू मोह नींद में न सो, जीवन अपना न व्यर्थ खो।
अब तो शरण उसी की लो जिसका असीम प्यार है।।
जो कुछ मिला अपना न मान, सब कुछ के सच्चे स्वामी को जान।
उससे, पथिक विमुख न हो, जो सबका सिरजन हार है।।

———

प्रभु तुमको न भूलें यही सौभाग्य हमारा है।।
तुमने ही तो लाखों को तारा है उबारा है।।

जो अशुभ किया मैंने तुमने न किया कुछ भी।
दुख उस किये का फल है तुमने न किया कुछ भी।
जो तुमसे मिल रहा है वह दान ही न्यारा है।।
जो बिगड़ी वो हमसे ही, तुमसे नहीं कहीं पर।
तुम तो बनाने वाले हम देखते यहीं पर।
फिर भी मुझे यह अपना अहंकार ही प्यारा है।।
जब भूले हमीं भूले तुमको तुम्हीं में रहकर।
तुमने कभी न छोड़ा हमको अयोग्य कह कर।
बदले के बिना अनुपम यह प्यार तुम्हारा है।।
जो कुछ न कर सके हम या जो रहा अधूरा।
वह सब तुम्हारे बल से होता ही गया पूरा।
ऐसा ही मुझ पथिक को आगे भी सहारा है।।

————

साधना में अपूर्णता

साधना में अपूर्णता का दुःख पूर्णता में ले जायेगा।

हम जिसे सर्वोपरि श्रेष्ठ मानते हैं, जिसके प्रति हृदय में श्रद्धा पूर्वक पूज्य भाव होता है, उसके दर्शन के लिए अथवा उस महान् शक्ति से कुछ पाने के लिये जो भी प्रयत्न किया जाता है, उसे साधना कहते हैं। साधना में ध्यान, ज्ञान एवं प्रेम की अपूर्णता का ज्ञान आवश्यक है।

लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो अपने को बलवान, बुद्धिमान, विद्वान, धनवान, रूपवान, कुलवान, श्रीमान् मानते हैं, लेकिन कोई भगवती शक्ति अथवा भगवान को नहीं मानते हैं। उनके जीवन में प्रार्थना आराधना, उपासना, तप, व्रत, पूजा–पाठ, जपादि साधना का प्रश्न ही नहीं उठता।

बहुत अधिक संख्या में ऐसे नर–नारी हैं जो परस्पर मिलकर कोई न कोई चर्चा करते रहेंगे परन्तु सत्चर्चा, भगवत चर्चा नहीं कर सकते। पर चर्चा सुनते रहेंगे परन्तु अपने सच्चे प्रभु की प्रिय चर्चा नहीं सुन सकते। अखबार एवं कहानी, उपन्यास आदि नित्य पढ़ते रहेंगे, परन्तु अपने धर्मग्रन्थ, गीता, रामायण आदि नहीं पढ़ेंगे। ये नास्तिक बड़े–बड़े नगरों में पहाड़ों में घूमने जायेंगे। परन्तु वे मन्दिरों में, तीर्थों में नहीं जा सकते। सिनेमा में, नौटंकी, ड्रामा में रात भर जागेंगे, परन्तु भगवान एवं भगवती के नाम पर नहीं जाग सकेंगे। ऐसे लोगों के मध्य में वे लोग जो श्रद्धापूर्वक भगवान, सर्वात्मा, परमात्मा अथवा सर्व रूपमयी, सर्व गुणमयी परमेश्वरी का स्मरण करते हैं, कीर्तन करते हुए कहीं–कहीं रात्रि भर जागरण करते हैं, जो भगवान एवं भगवती देवी की कथा सुनते हैं, वे अवश्य ही कृपापात्र हैं। क्योंकि भगवान के अनुग्रह से ही कोई भगवान–भगवती शक्ति का नाम स्मरण, यश, कीर्तन, कथा श्रवण कर सकता है।

भले ही यह भावुक श्रद्धालु, विश्वासी, दुःख दूर करने के लिए या किसी के लोभवश ही जप, स्मरण, जागरण, पूजा–पाठ करते हैं, परन्तु उन न करने वालों की अपेक्षा कुछ करने वाले, किसी भाव से करने वाले बहुत ही श्रेष्ठ भाग्यवान हैं।

किसी समय प्रभु कृपा से यह लोग सत्संगी, विवेकी, ज्ञानी होकर शान्ति, मुक्ति, भक्ति प्राप्त करेंगे। किसी भी भाव से भगवान से भगवती से सम्बन्ध जोड़ना परम सौभाग्य की दिशा है।

साधना की पद्धति को दुहराने वाले लाखों साधक हैं, परन्तु साधना में सद्भाव की तथा सद्ज्ञान एवं प्रेम की अपूर्णता को समझने वाले विरले हैं।

साधना के विषय में सुनकर मान लेना और बुद्धि–विवेक पूर्वक जान लेने में बहुत अन्तर रहता है। आरम्भ में पाठ–पूजा, प्रार्थना, जप, सुमिरन, ध्यान आदि के विषय में सुनकर या पढ़कर मान लेते हैं, बहुत समय बीतने पर यदि बुद्धि से समझने की क्षमता बढ़ती है और जानने वाले सन्त, महात्मा की संगति सुलभ होती है, तभी हम साधकजन जान पाते हैं।

आरम्भ में संग प्रेरित होने पर पाठ, कीर्तन, जप में क्रिया की प्रधानता रहती है, किन्तु जब तक भाव का योग नहीं होता तब तक मन नहीं लगता और मन के विकार दूर नहीं होते। यही कारण है कि आज हम अनेकों साधक जप, कीर्तन, पूजा–पाठ, ध्यान आदि जो कुछ भी करते हैं उससे लोभ, मोह, अभिमान, कामादि विकार दूर नहीं होते फिर भी परमेश्वर सम्बन्धित जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं, वह व्यर्थ नहीं जाते। प्रभु की कृपा से कभी न कभी हम साधक सही मार्ग पर आ ही जाते हैं।

हम साधकों में प्रथम आस्था दृढ़ होनी चाहिये, फिर सरल विश्वास, पुनः सात्विक श्रद्धा और आत्मीयता पूर्ण होनी चाहिये। इसके लिये भी विरक्त संतों के संग की परम आवश्यकता है–जिससे विवेक जाग जाये और उसी विवेक के सहारे हम साधक जन जो कुछ भी सुनकर मानते आ रहे हैं, उसे जानें

हमें सन्त ने समझाया है कि जो कुछ करते हो उसकी विधि को गुरु ग्रन्थ का पाठ करते हुये अथवा सन्त महात्मा के दर्शन पाप नाश होने की कल्पना ही न करते रहो अपितु स्वयं में देखो कि क्या परिवर्तन हो रहा है?

कितने अंश में दोषों का नाश हो रहा है? कितना अधिक गुणों की वृद्धि हो रही है?

जब तक सन्त सद्गुरु की सेवा का अवसर नहीं मिलता तब तक अपनी श्रद्धा का प्रीति का तथा योग्यता का एवं गुणों अथवा दोषों की मात्रा का विवेक नहीं होता। हमारे कर्मों को देखकर ही हमारे ज्ञान की नाप हो सकती है इसीलिये सन्त सद्गुरु के निकट रहना अति आवश्यक है।

प्रायः शब्दों के प्रयोग से हम अपने भीतर के भावों को छिपा सकते हैं लेकिन संग होने पर हमारे भीतर जो कुछ भी गुण दोष हैं वह प्रगट हुए बिना नहीं रह सकते।

सन्त सद्गुरु की सेवा के लिये जिन साधकों को निकट रहने का अवसर सुलभ नहीं है प्रायः वे ही साधक साधु वेष में, विरागी त्यागी सन्यासी वेष में धन भोग मान अथवा नाम के लिये छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड का आश्रय ले रहे हैं, जिन्हें अन्ध विश्वास रखने वाले अविवेकी गृहस्थ नर नारी नहीं पहचान पाते और दोनों अपने अपने मन की पूर्ति के लिये परस्पर एक दूसरे के द्वारा ठगे जाते हैं।

ऐसे लोगों को कोई समझा भी नहीं सकता। प्राकृतिक विधान से असत् कर्मों का फल ही दुःख रूप से आकर उन्हें सावधान करेगा।

अपने मन से साधना करने वाले या दूसरों को देखकर जप कीर्तन पाठ करने वाले साधन भजन करने के अभिमानी तो बन पाते। इसीलिये आरम्भ से ही जानकर गुरुजनों से समझकर साधन भजन करने की प्रथा प्रचलित है परन्तु अभिमानी लोभी जन इस प्रथा पर विचार नहीं करते।

बहुत लोग प्रथा के अनुसार किसी को गुरु भी बना लेते हैं शिष्य बन जाते हैं लेकिन विवेक पूर्वक गुरु को समझ नहीं पाते।

यह अहंकार जब तक ज्ञान में नहीं देख लिया जाता तब तक यही साधक बनता है, यही गुरु बनता है, यही शिष्य बनता है। दूसरों को जैसा देखता है मानता है उसी की नकल कर लेता है। बालक तो अनुकरण (नकल) करेंगे ही परन्तु विद्वान होने पर भी अनुकरण ही करते रहते हैं, यह दुर्भाग्य की ही सीमा है।

अज्ञान में जो व्यक्ति धन भूमि भवन अधिकार पद का भोगी बनता है वही आगे चलकर तप का, त्याग का, भजन का, ज्ञान ध्यान का भी भोगी बना रहता है।

युवावस्था में प्रायः रजोगुण की ही प्रबलता रहती है, सतोगुण बहुत कम मात्रा में जाग्रत रहता है उस समय पूर्व संस्कार से प्रेरित होकर कोई आध्यात्मिक दिशा में यात्रा करता है तब वह रामकृष्ण परमहंस अथवा विवेकानन्द अथवा महर्षि दयानन्द स्वामी रामतीर्थ अथवा महात्मा गांधी आदि सन्तों महात्माओं की जीवनी पढ़ता है और उनके प्रसिद्धि संसिद्धि के विषय में मनन करता है तब मन में यही लालच लगता है कि मैं भी किसी प्रकार परमहंस हो जाऊँ, विवेकानन्द हो जाऊँ, महात्मा गांधी के समान कर्मयोगी हो जाऊँ? ऐसा साधक अपने भीतर रजोगुण का अध्ययन नहीं कर पाता।

हमें सावधान किया गया है कि तुम आत्म निरीक्षण करो? शान्त मौन होकर मन की गतियों को देखो? तुम कभी नाम जप, कीर्तन, ध्यान, पूजा, पाठ आदि साधना करते हुए मुक्ति, भक्ति, शान्ति के लिये प्रार्थना करते हो

और तुम्हीं कभी अवसर आते ही धन, मान, पद, प्रतिष्ठा चाहने लगते हो इसीलिये अनुकूलता के भोगी रागी बने और प्रतिकूलता में द्वेषी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, निन्दक बन जाते हो।

हमें समझाया गया है कि माला लेकर जप कर लेना, ताल स्वर से कीर्तन कर लेना, आँख बन्द करके ध्यान में कुछ देर तक बैठे रहना तुम्हारे लिये सरल है लेकिन भीतर से लोभ रहित, मोह रहित, कामना रहित, विषयासक्ति, सुखासक्ति से रहित होकर समग्र प्रेम परमात्मा में लगा देना आसान नहीं है।

एक सन्त ने बताया कि जप, कीर्तन, ध्यान, भजन करते हुए एकान्त सेवन तथा तप करते हुए तुम्हारे मन में यदि धन का चिन्तन अधिक होगा तो कुछ समय पश्चात् तुम्हें धन की ही प्राप्ति होगी। यदि कामवश सुन्दर स्त्री का चिन्तन होगा, भले ही तुम बार बार हटाना चाहोगे परन्तु बलात तुम्हारे भीतर मोहक चित्र बनाता रहेगा, तुम व्यथित भी हो जाओगे परन्तु आगे चलकर उसी कामना की पूर्ति का क्षेत्र सुलभ होगा जिसे तुम त्याग नहीं पाये थे भीतर ही भीतर लिये हुए साधना आराधना करते रहे।

यदि तुम्हारे भीतर मान, प्रतिष्ठा, महात्वाकांक्षा अथवा सिद्धि चमत्कार प्राप्ति की उत्सुकता है तब कालान्तर में उसी की पूर्ति का भोग करना होगा।

तुम आत्मा–परमात्मा के विषय में जो कुछ भी सुनोगे या पढ़ोगे वह बाहर से सुनोगे या पढ़ोगे परन्तु उसे जानने–समझने, देखने के लिये तुम्हें अपने भीतर ही ठहरना होगा। बाहर जो भी दीखेगा वह दृश्य होगा, सत्य नहीं होगा।

कानों से शब्द सुनाई देता है, परन्तु अर्थ का बोध भीतर से ही होता है। शब्दों को रटने वाला पाण्डित्य का परिचय दे सकता है। अर्थ में मौन होने वाला ज्ञान को पा जाता है। गुरु निर्णय अनुसार बुद्धि बाहर से जानती है, प्रेम तो भीतर प्रवेश करता है। प्रेम के विस्तार में साधक शून्य हो जाता है और सारा जगत चैतन्य परमात्मा से भरा दीखता है। जगत में व्याप्त जीवन ही तो परमात्मा है। शास्त्र निर्णय अनुसार सत्य परमात्मा सर्वत्र सर्वदा निरन्तर अभी यहीं सुलभ है परन्तु दृश्य की स्मृति से वह अदृश्य रह कर विस्मृत हो रहा है।

वास्तव में अव्यक्त प्रकृति में क्षोभ होने से महत्व अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के आगे समस्त भेद भ्रम अज्ञान की सीमायें हैं।

जिन्हें परमात्मा की प्यास नहीं है उन्हें सत् चर्चा धर्म चर्चा प्रिय नहीं लगती उन पर परमार्थ चर्चा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ऐसे मनुष्यों का बहुत बड़ा वर्ग है जो सत् चर्चा धर्म चर्चा तथा त्याग, तप, दान की चर्चा का विरोधी है।

एक दूसरा वर्ग है जो अपने से बढ़ कर देवी देवताओं को मानता है, मस्तक झुकाता है, प्रार्थना, पूजा, आराधना करता है परन्तु चाहता है सांसारिक धन, भोग सामग्री, सुख और सम्मान। वह शान्ति आनन्द नहीं चाहता।

हमें सद्गुरु ने समझाया है कि सावधान होकर बुद्धि युक्त होकर देखो, यदि तुम देवी देवताओं के मन्दिर में भयवश किसी प्रकार की रक्षा के लिये

प्रार्थना करते हो, अथवा लालचवश कुछ याचना करते हो, तब तुम शान्ति नहीं चाहते हो, आनन्द नहीं चाहते हो फिर भी तुम इस योग्य हो कि गुरु निर्देश आदेश, उपदेश सुनकर परिस्थिति भले ही नहीं बदल सकते परन्तु मन की स्थिति बदल सकते हो और अज्ञान में जो प्रयास सुखोपभोग के लिये, धन के लिये, मान के लिये कर रहे थे वही प्रयास ज्ञान में शान्ति के लिये, आनन्द के लिये कर सकते हो। बाहरी सांसारिक धन से किसी को भी शान्ति नहीं मिली, आनन्द नहीं मिला, सन्तोष नहीं मिला। तुम दैवी सम्पदा को प्राप्त करो।

साधक, सिद्ध सुजान जिस दिव्य दृष्टि, ज्ञान दृष्टि, प्रज्ञा दृष्टि से दर्शन करते हैं वह दर्शन मूढ़ मनुष्य नहीं कर पाते।

यह भी गुरु निर्णय है :– जिस प्रकार कोई कुली लोभ वश सुखियों के भार को सर में लेकर चलता है उसी प्रकार मूढ़ अविवेकी शास्त्र के भार को ढोता है। ज्ञान के भार को ढोता है। अशान्त व्यक्ति के लिये मन ही भार बन जाता है। देहाभिमानी, आत्म–अज्ञानवश देह को भार के समान ढोते हुए मृत्यु में जाता है।

जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य देह को सुरक्षित रखने की चिन्ता रखकर देह की ही सेवा में लगा रहता है, उसी भांति प्रेम से भरे ज्ञान में देखने वाला विवेकी साधक अविनाशी आत्मा का सेवन करते हुये प्रेम में तृप्त सन्तुष्ट शान्त रहता है, वह संसार चक्र से निकल जाता है। यह गुरु निर्णय हैः– तुम जो कुछ मन से अपना मानकर 'मेरा', 'मेरी' कहकर मोही लोभी अभिमानी बन रहे हो उसे बुद्धि द्वारा ज्ञान में देखो।

जिस देह को तुम मेरी कहते हो, वह तुमने नहीं बनाई, वह तो तुम्हें मिली है, देह में जो स्वांस चल रही है, धड़कन चल रही है, रस, रक्तादि धातु बन रही है, यह सब तुम नहीं कर रहे हो——यह सब कुछ प्रकृति में हो रहा है, इसे ही ज्ञान में देखो, फिर देखने वाले की खोज करो।

तुम्हारी या,त्रा का आरम्भ तन से, इन्द्रियों से अथवा मन से, बुद्धि से, अहंकार से ही होता है। जहाँ से यात्रा आरम्भ होती है, वहीं पर यात्रा का अथवा गति का अन्त होता है।

प्रत्येक यात्रा में, गति में श्रम है, थकावट है, यात्रा के अर्थात् गति के अन्त होते ही विश्राम मिलता है। जहाँ यात्रा अथवा गति चल रही है, यही संसार चक्र है। जहाँ विश्राम सुलभ होता है, वहीं परमात्मा है। परमात्मा की सत्ता से ही चक्र का आरम्भ होता है और उसी में अन्त होता है।

चक्र की परिधि में घूमते रहने वाला भोगी होता है। जिस केन्द्र बिन्दु में चक्र घूम रहा है, उसका आश्रय लेकर शान्त स्वस्थ रहने वाले को योगी कहते हैं। परमात्मा ही संसार चक्र का केन्द्र है। इसी प्रकार चेतन आत्मा ही तन, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार रूपी चक्र का केन्द्र है। आत्मा से ही सब कुछ चल रहा है।

हम सभी साधक जन संसार चक्र के केन्द्र परमात्मा को ज्ञान से देखते हुए साथ ही अहंकार चक्र के केन्द्र आत्मा को ध्यान से देखते हुए चक्र से मुक्त हो सकते हैं।

यह भी सन्त सन्देश है कि सब में परमात्मा को बाद में देखना अभी तो अपने में परमात्मा को देखो।

आत्मस्थ अथवा योगस्थ होने के लिए चित्त में सन्तुलन तथा व्यवहार में तटस्थता और उपेक्षा बहुत ही सहायक है और इन चारों सद्गुणों के लिये समझ बहुत ऊँची होनी चाहिये।

ज्ञानियों के प्रति सात्विक, श्रद्धा और सेवा पूर्वक संगति से समझ अर्थात् सही जानकारी बढ़ती है। इसीलिए अध्यात्म ज्ञान सम्पन्न साधु–सन्त का संग अवश्य करते रहो, लेकिन पाप से दूषित अहंकार से सावधान रहना वह श्रद्धा का विरोध होगा।

श्रद्धा हो तो ज्ञान स्वरूप से ही हो, देह में मन में इन्द्रियों में श्रद्धा तो असत् संगी बनाती है।

तुम अपने को शिष्य, सेवक मान कर सन्तोष न करो। सन्त की संगति में अपने 'मैं' को जानो।

विचित्र बात है जो 'मैं' रोम–रोंम में अधिकार जमाये हुये है जो 'मैं' परमात्मा के नित्य योग का अनुभव नहीं होता क्योंकि बीच में आकर यह चाहने लगता है कि 'मैं' परमात्मा का अनुभव करूंगा, मैं भगवान के दर्शन करूंगा, यही मैं दर्शन में अथवा अनुभूति में बाधक होता है।

सन्त कहते हैं कि इस मैं की खोज में भीतर उतरोगे तो यह कहीं मिलेगा ही नहीं।

हमें समझाया गया है कि यह देह दीवार है आत्मा ही देवता है। यह संसार दीवार है और परमात्मा ही परम देवता है। प्रत्येक पदार्थ जड़ है, लेकिन उस जड़ता के पीछे जो शक्ति है, सत्ता है, वही जड़ता का जीवन है।

जो आत्मा–परमात्मा को जान लेता है, उसे यह देह मन्दिर दीखने लगता है। जो समाधि को प्राप्त कर लेता है, उसकी देह ही समाधि मन्दिर बन जाता है।

श्री गरुड़ जी ने श्री वशिष्ठ जी की समाधि प्राप्त करने के लिये प्राणोपासना का विशद वर्णन किया था। उसका एक क्रम है। संत ने हमे समझाया कि प्रथम आसन में पीठ की रीड़ सीधी करके बैठो। ध्यान से देह को देखो, मन में भावना करो यह मुर्दा हो रहा है, पैरों से शक्ति ऊपर हृदय की ओर समिटती आ रही है, धीरे–धीरे शरीर के अंग शून्य हो रहे हैं। शरीर एक खोल की तरह ढांचे की तरह स्थिर है। स्वास की गति को भीतर आते और जाते हुये देखो। स्वास को शान्त, शिथिल, धीमी करते जाओ। रोको नहीं फिर मन को शान्त, शिथिल, होने की भावना करो, बार–बार मन से शान्त–शान्त दुहराते जाओ।

हम अनेकों साधक उसी को भक्त मानते हैं जो भगवान का नाम जप अथवा कीर्तन करता है, जो मन्दिर में नित्य फूल माला आदि सामग्री से पूजन करता है, लेकिन गीता में भगवान ने कहा है 'समः सर्वेषु भूतेषुमद्भक्तिं लभते पराम्'। जो समत्व योगी है, वही मेरी भक्ति प्राप्त करता है और समत्व योगी होने के लिये उन्नीस विशेषतायें प्राप्त करनी होती हैं यह गुण विशेषता ध्यान योगी में ही आती हैं।

भगवान का नाम, जप, स्मरण, कीर्तन, वन्दन आदि भक्ति के अंग अवश्य हैं किन्तु इतने से ही अपने को भक्त मान लेना अहंकार का अविवेक है।

भजन का अर्थ है प्रीति पूर्वक पूजा करना, अर्पण करना, सेवा करना। जो केवल ईश्वर के निकट रहता है, जिसके प्रेम में केवल परमात्मा ही रहता है उसी को विद्वान भक्त उपासक कहते हैं। परमात्मा से भिन्नता न रहे, दूरी न रहे, तभी भक्ति की पूर्णता है। भागवत में निरतिशय प्रेम के साथ जहाँ कोई हेतु नहीं, कोई कामना नहीं, जहाँ किंचित भी अन्तर नहीं उस निरन्तर प्रेम को श्रीमद्भागवत में भक्ति नाम दिया है।

भगवान कृष्ण के हम लोग साकार दर्शन भले ही नहीं न कर सकें परन्तु यदि हम मुक्ति चाहते हैं, शान्ति चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं, अथवा सद्गति, परमगति अथवा निर्वाण पद प्राप्त करना चाहते हैं तो भगवान ने सभी प्रकार के चाहने वालों को साधना बता दी है और कुछ न चाहने वालों को भी जो अपने आप होना चाहिये उसका निर्णय दे दिया है, यदि उसे स्वीकार कर लें तो भगवान को दर्शन देने की आवश्यकता नहीं है हम भगवान के बताये हुए ध्यान, ज्ञान, विज्ञान के सहारे कर्म–योगी, ज्ञान–योगी, भक्ति–योगी अथवा सिद्धि, संसिद्धि, परमगति, परमशान्ति ब्रह्म–निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

प्रायः हम अनेकों साधक भगवान का नाम जप, नाम संकीर्तन अथवा पूजा पाठ तो नित्य करते हैं परन्तु भगवान ने जो साधना बताई है उस पर ध्यान नहीं देते। हम भगवान को मानते हैं परन्तु भगवान के आदेश उपदेश निर्देश सन्देश नहीं मानते फिर भी ऊपर से अपने को भगवान के भक्त कहलाने के लिये जो कुछ सजावट करनी चाहिये वह सब पूरी करते रहते हैं।

'हरि इच्छा पूरी करें जो जी करते लोग।
भोगेच्छुक को भोग है योगेच्छुक को योग।।'

असत् कर्म अथवा पाप कर्मों को न करने के लिये और उनके दुष्परिणाम–भोग से बचने के लिये सत्कर्म निर्मल तीर्थ हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा है कि तीर्थों से वाह्य मल की शुद्धि होती है, तन शीतल होता है। और सत्कर्मों से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मन शीतल होता है।

इसीलिये भगवान ने कहा है यज्ञ दान, तप रूप कर्म नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान, तप विद्वानों को पवित्र करते हैं। (गीता0 18/5)

सन्तों का कहना है कि जिस प्रकार भोजन से तृप्ति न हो जाये तब तक परोसी थाली नहीं हटानी चाहिये। जब तक नदी पार नहीं कर ली जाये तब तक नौका नहीं छोड़नी चाहिये, अन्धकार में पड़ी हुई चीज जब तक न मिले तब तक प्रकाश दीपक लिये रहना चाहिये उसी प्रकार जब तक अन्तःकरण निर्मल न हो जाये तब तक सत्कर्म–यज्ञ दान, तप नहीं त्यागना चाहिये।

जब तक विवेक, पूर्ण जाग्रत नहीं हो जाये तब तक सन्त सद्गुरु की संगति करते ही रहना चाहिये। जब तक भगवान में ही पूर्ण प्रेम स्थिर न हो जाये तब तक भगवत कथा श्रवण तथा भगवद्–नाम कीर्तन एवं नाम स्मरण चिन्तन ध्यानाभ्यास चालू रखना चाहिये।

गीता अठारहवें अध्याय, ध्यान योग के प्रकरण में बहुत स्पष्ट साधना वर्णित है।

प्रथम बुद्धि को शुद्ध करो। धैर्य से आत्म संयमी बनो अर्थात् अपने चित्त को वशवर्ती बना लो।

इन्द्रियों के रूप रस शब्दादि विषयों से अनासक्त रहो।

चित्त में राग द्वेष आने ही न दो।

एकान्त सेवन करो। स्वल्प भोजन से निर्वाह करो। शरीर को, वाणी को, मन को अपने अधीन रक्खो। नित्य निरन्तर ध्यान से जो कुछ भी हो रहा हो उसे देखते चलो और आत्मा में ही ध्यान स्थिर करो। वैराग्य को कहीं शिथिल न होने दो।

विरक्त रहकर अहंकार से, बल से, दर्प से, काम, क्रोध और परिग्रह से अपने आपको मुक्त रक्खो। ममता रहित होकर शान्त रहकर अखण्ड ब्रह्मतत्व का अनुभव करने की योग्यता प्राप्त करो।

गीता का यह निर्णय है कि इस प्रकार ध्यान योगी ब्रह्म साक्षात्कार करते हुए निरन्तर प्रसन्न रहता है वह न किसी का शोक करता है न किसी की आकांक्षा करता है, अपितु सभी प्राणियों में समभाव रखते हुए परमात्मा में ही प्रीति रूपी भक्ति प्राप्त करता है, परमात्मा में ही तन्मय रहता है।

मन को वश में करने के दो साधन बहुत ही सरल है एक है मन को देखते रहना और दूसरा है मन को नाम जपादि में लगाये रहना।

जब कष्ट क्लेश हो, मन अधीर हो रहा हो तब ज्ञान से देखो कि क्लेश किसे है? केवल देखते रहो तब क्लेश हटता जायेगा। कुछ देर देखते रहो। एक सन्त ने बताया कि देह आत्मा मिलाकर एक मानना ही मन है।

अकेले रहने में मन चंचल हो तब वाह्य प्राणायाम बहुत सहायक है। रेचक प्राणायाम करो।

मैं देह नहीं हँ यह देह सत्य नहीं है इसे बराबर स्मरण रक्खो; भूलो ही नहीं। यही निदिध्यासन है यह श्रवण के पश्चात् होना चाहिये। मूर्ति–ध्यान भी साधन सिद्धि में सहायक है।

हमें समझाया गया है कि सभी आकारों में निराकार को ज्ञान से देखना भजन है। पत्थर, पुष्प, चीटी, हाथी, गधा, गाय, पक्षी, पतिंगा सभी में परमात्मा को नमन करो। परन्तु कठिनता यही है कि अभ्यास न होने के कारण स्मरण ही नहीं रहेगा।

इतना सावधान रहो कि जो कुछ भी शत्रु मित्र मारने वाले और रक्षा करने वाले में प्रथम परमात्मा को नमस्कार करो फिर नाम रूप को पहिचानो भगवान तो इसे ही अपना भजन बताते हैं।

ज्ञान में तटस्थ रहकर देखने से स्पष्ट दीखता है कि संसार में जब तक कुछ भी चाह है तब तक भाग दौड़ यात्रा तथा आशा चिन्ता, भय, संघर्ष सब चलते ही रहेंगे, कहीं विश्राम नहीं मिलेगा। सन्त ने ठीक ही कहा है कि संसार से कुछ चाहिये तो दौड़ो और परमात्मा को पाना हो तो ठहरो।

मन का जो परमाश्रय है मन जहाँ ठहरता है वही परमात्मा है। मन को ठहरने के लिये परमात्मा ही है और मन के भागने के लिये भूत भविष्य का विस्तार चाहिये।

एक महात्मा ने समझाया कि यदि तुम चाहते ही हो कि मन शान्त हो जाये तो इतना जोर लगा दो कि मन को भूतकाल और भविष्य के विस्तार में न जाने दो, पाँच मिनट ही ऐसा करके देखो! यदि सफल होते गये तो मन ठहर जायेगा। फिर मन रह ही न जायेगा। इसी अभ्यास को बढ़ाते जाओ।

अनेकों सन्त महात्मा स्वास के आने जाने को मन से देखते रहते हैं तब मन अतीत और भविष्य के विस्तार में नहीं जाता। बीते हुए अतीत की याद और भविष्य के चित्र मन के स्थिर होने में बाधक है।

स्वास के सहारे अनेकों साधक 'सोहं', 'हंसः' का मनन करते हैं कोई साधक राम नाम ओम नाम का सुमिरन करते हैं।

जिस प्रकार अन्धकार में प्रकाश हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान अन्धकार के स्थान में किसी समय ज्ञान हो जाता है, देह के स्थान में आत्मा हो जाती है। सीमाओं के मध्य में ही असीम हो जाता है।

इसीलिये सन्त कहते हैं कि तुम कर्ता न बनो, तुम कुछ न करो, शान्त मौन होकर वर्तमान में जो कुछ भी हो रहा है उसी को देखते रहो।

जब जब याद आये कि परमात्मा को प्राप्त करना है, साधना करनी है अथवा नियमानुसार मन्दिर में सेवा पूजा करनी है तब तब यही स्मरण करो कि हे प्रभु, अभी वहीं है इसी की शक्ति है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है 'मैं' इससे भिन्न नहीं हूँ। यही स्वयं में भगवत् प्रतिष्ठा है।

यह भी ज्ञान में देखने योग्य अपना अज्ञान है, हम अनेकों साधक प्रह्लाद की कथा सुनते हैं। प्रह्लाद प्रतिकूल परिस्थिति में प्रभु का नाम

लेकर प्रभु को प्रकट कर सकें, लेकिन हम अनुकूल परिस्थिति में मन्दिर, मूर्ति पूजा, प्रार्थना करते हुए भगवान को खोजते ही रहते हैं।

भक्त प्रह्लाद ने कभी प्रार्थना नहीं की कि 'भगवान् हमारी रक्षा करो, हमारे शत्रु को नष्ट करो।' जो होना था वह स्वतः ही होता गया।

यह भी गुरु निर्णय है कि जिस प्रकार प्रकाश का और छाया का सम्बन्ध बन जाता है, उसी प्रकार प्रेम और अहंकार का सम्बन्ध बन जाता है। तुम्हारे आगे प्रेम है तो पीछे अहंकार है और आगे अहंकार है, तो पीछे प्रेम है, परमात्मा है।

परमात्मा ही केवल पवित्रतम है। जो परम पवित्र है, वहीं परमात्मा है। तुम सभी में परमात्मा का अनुभव, सत्ता के रूप में करो, चेतना के रूप में करो, प्रेम और आनन्द के रूप में करो और दुःखी प्राणियों पर दया करो, अपने बराबर वालों पर मित्रभाव रक्खो, सदा शुभ–सुन्दर प्रिय के देने में उदार बने रहो और मधुर बोलने का अभ्यास दृढ़ कर लो। ऐसा करने में कहीं पराधीनता नहीं है। यदि दृढ़ संकल्प कर लो तो दया, ममता, सहनशीलता तथा मधुरता पूर्ण हो सकती है। अभी से यह अभ्यास कर सकते हो। लेकिन आलस्य प्रमाद सुखासक्ति आदि प्रतिकूल अभ्यास को छोड़ना होगा।

देखो! चिदाकाश ही तो नित्य सुलभ परमात्मा है, उसी में चित्ताकाश एवं भूताकाश स्थान पा रहे हैं, अब तुम निरीक्षण करो कि बीच में किस आकाश में अटक रहे हो। परमात्मा को जानने से ही शान्ति मिलेगी, पदार्थों में अटके रहना पाप है। परमात्मा को चाहना पुण्य है।

परमात्मा में निर्हेतुक व निष्काम और निरन्तर जो शुद्ध प्रीति है, वही भक्ति है (भा0 3, 29, 12)। कोई–कोई ऋषि ईश्वर पूजा में अनुराग करने को भक्ति मानते हैं।

नौ प्रकार की भक्ति प्रायः साधक पढ़ते सुनते ही रहते हैं। किसी–किसी के मत से ज्ञान बिना भक्ति और भक्ति के बिना ज्ञान अपूर्ण ही रहते हैं। गीता में ज्ञानवान भक्त को सर्वश्रेष्ठ कहा है। लेकिन शाब्दिक ज्ञान शास्त्र ज्ञान, भक्ति को पूर्ण नहीं कर पाता, अपरोक्ष ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अवश्य ही शास्त्र का ज्ञानी भक्ति द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम।। (गी0 18, 55)

अनन्य भक्ति से भक्त (मुझे) जैसा हूँ, जो हूँ, वैसा तत्व से जान लेता है। तत्व से जान लेने पर वह फिर मुझ में ही प्रवेश करता है अर्थात् लीन होता है।

परमात्मा को जान करके साधना द्वारा एकता अभिन्नता की अनुभूति ही भक्ति है और परमात्मा को अन्तर प्रेम में अनुभव करते हुए बुद्धि से सर्वत्र उन्हें जानना, ज्ञान है।

ब्रह्म वेत्ता मुनि कहते हैं कि परमात्मा को अपना आत्मा (अपना निज स्वरूप) समझ करके ही बार–बार चिन्तन करो।

अपने आत्मस्वरूप में ही ब्रह्म का निरन्तर स्मरण चिन्तन करते हुए ध्यान से देखो।

जिस प्रकार अज्ञानी, अविवेकी मनुष्य देह के साथ एकमेव होकर सब कर्म करता है, कर्मफल का भोक्ता बनता है और देह के बन्धन में रहता है, उसके विपरीत, यथार्थ देखने वाला विवेकी मानव परमात्मा के साथ एकता का अनुभव रखते हुए आत्मस्थ रह कर, योग युक्त रहकर शुद्ध अन्तःकरण से इन्द्रियों को स्ववश में रखते हुए कर्म करता है, वह कर्ता न बनकर, दृष्टा हो कर, सब कुछ होते हुए देखता है, यही कर्म के बन्धन से मुक्त रहता है। भगवान् का आदेश है कि इसी प्रकार तुम भी आत्मस्थ होकर दृष्टा बने रहो, कर्ता न बनो।

ममता और कर्म में कुशलता ही तो योगस्थ बनाती है। विषमता और कर्मफल की दासता ही भोगी बनाये रहती है। भोगी, कामना की पूर्ति में पराधीन रहता है और पूर्ति न होने पर भी पराधीन रहता है।

सन्त मत से जो पुरुष धन–लाभ, सन्मान लाभ, भोग सामग्री के लाभ को ही पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का लाभ मानता है, वह अविवेकी है, मूढ़ है, मूर्ख है क्योंकि इन्हीं लाभों के पीछे मनुष्य पराधीन बना है। परम पुरुषार्थ तो यही है कि अपने स्वरूप को तथा जगत के स्वरूप को और जगतपति परमात्मा के स्वरूप को तत्वतः जान लिया जाये। मान कर ही सन्तोष नहीं करना है।

यह सन्त निर्णय है कि कामना, वासना पूर्ति का सुख भोगते हुए जब दुखाघात लगता है तब वैराग्य आता है। राग के हटने पर प्रभु के प्रति अनुराग पूर्ण होता है। अनुराग की पूर्णता में ही भक्ति पूर्ण होती है। ज्ञान पूर्वक असंगता से मुक्ति सुलभ होती है और प्रेम पूर्वक परमात्मा से अभिन्नता का बोध होने पर परमात्मानन्द की अनुभूति होती है।

रजोगुणी मन जो कुछ भी साधना करेगा उसके बदले में कुछ न कुछ भोग ही चाहेगा। वृत्तियों की प्रबलता ही रजोगुणी मन का परिचय देती है।

सात्विक मन भोग वृत्तियों से युक्त रहता है। सात्विक मन रजोगुण को तटस्थ रह कर देखता हैं

सात्विक मन पूर्ण चैतन्य होता है।

मन को सात्विक होने में निष्काम रह कर कर्मों को होते हुए देखना–एक सरल साधना है, लेकिन निष्काम होने के लिए आत्म–तत्व की निरन्तर स्मृति रहनी चाहिये अथवा भगवान की सतत स्मृति चलनी चाहिये। निष्काम सेवा, निष्काम भजन से एकान्त सेवन संयम से सतोगुण बढ़ता है।

परम गुरु भगवान के अर्जुन दर्शन कर रहे थे उन्हें भगवान ने दैवी सम्पदा के सुलक्षणों को समझाया था वह सुलक्षण हम साधकों को धारण करना चाहिये। भगवान ने कहा है––

1– निर्भय रहो, सन्मार्ग में साधना पथ में हानि, अपमान, वियोग आदि से न डरो। किसी दूसरे को भी भयातुर न बनाओ यथाशक्ति सबको अभय दान दो।

2– अन्तःकरण शुद्ध रक्खो (सांसारिक व्यवहार में झूठ, कपट, छल, दम्भ न करो, मिली हुई शक्ति सम्पत्ति योग्यता का अभिमान न करो) मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार यही अन्तःकरण है इन्हें अपवित्र न होने दो।

3– आत्मा परमात्मा के ज्ञान में बुद्धि को स्थिर रक्खो, आत्मा के ज्ञान में मन, बुद्धि, अहंकार योगस्थ रक्खो, भोगासक्त न होने दो।

4— सुपात्र को वह देते रहो जो तुम दूसरों से चाहते रहे हो। अन्न, वस्त्र, धन, मान का दान करो।

5— इन्द्रियों को वश में रक्खो।

6— गीता में तेरह प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं उन्हें समझ कर प्राप्त शक्ति सम्पत्ति से दूसरों को मदद दो।

7— धर्मग्रन्थों का शास्त्रों का अध्ययन करते हुए स्वयं का अध्ययन करो।

8— तप करो अर्थात् कर्तव्य पालन, धर्माचरण तथा सेवा करते हुए प्रतिकूलताओं को धैर्यपूर्वक सहते रहो।

9— सबके प्रति सरल बने रहो अकड़ों नहीं।

10— मन से, वाणी से, तन से किसी को कष्ट दुःख न दो अहिंसा व्रती बनो।

11— सत्योपासक रहो अर्थात् विनाशी में अविनाशी को देखो उसे ही चाहो।

12— क्रोध न करो उसके वेग को रोक लो मौन रह जाओ।

13— त्याग करो अर्थात् जो अशुभ अपवित्र दुखद दोष हैं उन्हें त्यागते रहो।

14— शान्त रहो! अशान्ति होती है द्वेष से, ममता से, तृष्णा से, लोभ से—इन विचारों से बचते रहो।

15— चुगली न करो अर्थात् पीठ पीछे किसी के अवगुण न कहो।

16— सभी दुःखी प्राणियों पर दया करो, किसी को कष्ट न दो।

17– निर्लोभी रहो धन मान भोगों का लालच छोड़ दो।

18– नम्रता धारण किये रहो स्वभाव में, वाणी में क्रूरता कठोरता न आने दो।

19– लज्जालु स्वभाव न छोड़ो अनुचित कर्म न करो।

20– चपलता न आने दो, व्यर्थ चेष्टा कोई न करो।

21– क्षमा करना स्मरण रक्खो, दण्ड देने की शक्ति होने पर करुणा दया करके छोड़ दो। क्रोध न आने दो।

22– धैर्य नहीं छोड़ो आपत्ति आने पर सम शान्त रह कर बुद्धि पूर्वक कर्तव्य पालन करो।

23– तेजस्वी बने रहो, तुम्हारी उपस्थिति मात्र से लोग अनुचित कार्य न करें, जो करना चाहिये वही करें।

24– पवित्रता बनाये रहो अर्थात् शरीर को, हाथों–पैरों को, मन को वाणी को दूषित न होने दो।

25– किसी से द्रोह न करो, ईर्ष्या, घृणा, निन्दा न करो।

26– मानी न बनो, सर्वत्र अपनी पूजा प्रतिष्ठा पाने की आदत न पड़ने दो। अहंकार वश अपने को बड़ा मानकर घमण्ड न करो।

यह 26 लक्षण ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र सभी में रहने चाहिये।

यह दैवी वृत्तियाँ तुममे तभी होंगी जब तुम मुक्ति, भक्ति, शांति चाहोगे, जब तुम धर्म एवं सत्य के प्रेमी होगे। तुम अपना अध्ययन करते रहो। दैवी सम्पदा में कब, कौन से सुलक्षण की कमी है? इसे देखते रहो।

तुम निर्णय करो कितनी उत्कट अभिलाषा है, काम, क्रोधादि विचारों से रहित होने की और कितनी प्रबल आतुरता है किसी कामना को पूर्ण करने की? यह निश्चित है कि जब तुम किसी कामना की पूर्ति न चाहोगे, तब क्रोध स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

जब तुम धन–भूमि–भवन आदि वस्तुओं के लोभी न रहोगे तब स्वतः ही ईर्ष्या–द्वेष, कलह, निन्दा, घृणा आदि विचारों के उठने की आवश्यकता ही न रहेगी। यह भी निश्चित है कि चाह रहित तभी हो सकोगे जब हृदय में आनन्द की अनुभूति होगी। हृदय में आनन्द की अनुभूति तभी होगी जब आनन्द स्वरूप परमात्मा के साथ आत्मा की एकता का अनुभव होगा। यह अनुभव तभी होगा, जब समग्र प्रेम समिट कर नाम रूपातीत नित्य चेतन मय हो जायेगा।

प्रेम सब ओर से तभी समिटेगा जब अहंकार गुरु ज्ञान द्वारा पसीजकर, पिघलकर, गलकर मिट जायेगा। अहंकार तभी मिटेगा जब ज्ञान में अहंकार को देखने की साधना की जायेगी। दृष्टा होकर प्रत्येक क्रिया को देखते रहना होता है, करना रहता ही नहीं।

दैवी सम्पदा के विपरीत भगवान ने आसुरी सम्पदा के कुलक्षण बताये हैं।

(1) दम्भी होना अर्थात् अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरों के सामने अपने को धर्मात्मा, दानी, परोपकारी, त्यागी, ज्ञानी, विरक्त भक्त मुक्त सिद्ध करना दम्भ है। ऊपर से सजावट, बनावट और भीतर छल, कपट रहना पाखण्ड है। (2) विद्या, धन, रूप, बल, पदाधिकार का गर्व—यह दर्प है। (3) अपने को पुजवाने की चेष्टा करना, बहुत बढ़ा चढ़ाकर अपने कृत्यों का बखान करना—यह अभिमान है दूसरों को तुच्छ, नासमझ, मूर्ख पतित नीच मानकर उनसे घृणा करना अभिमान है। (4) दूसरों को नीचा दिखाने के लिये उत्तेजित होना क्रोध है। (5) विवेक का अभाव तथा ज्ञान प्रकाश में देखे बिना वस्तु का निर्णय देना अथवा ज्ञान रूपी प्रकाश में 'मैं' को और 'मेरा' को न देखना अज्ञान है। किसी को कठोर सूखे वचन कहना यह सब आसुरी स्वभाव आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति में होते हैं।

आसुरी सम्पदा से भरे हुए अहंकार में अपरिमित चिन्तायें चलती रहती हैं, वे सदा कामोपभोग परायण आशाओं से बंधे हुए लोभी, मोही, अभिमानी, दम्भी, हिंसक बने रहते हैं। अब तुम निरीक्षण करो कि तुम्हारे भीतर आसुरी वृत्तियों की कितनी मात्रा अभी शेष रह गई है जो कभी कभी उभर आती है और दैवी वृत्तियों में आघात करती है।

हम सभी साधकों को सुगति दुर्गति देने वाले लक्षणों का निरीक्षण करना आवश्यक है।

परमगुरु भगवान ने अज्ञान में ज्ञानी बनने वालों के कुलक्षणों का निर्णय करते हुए आसुरी वृत्ति वाला कहा है।

जो मनुष्य करने योग्य शुभ कर्म को तथा न करने योग्य अशुभ कर्म को नहीं जानते, बाहर भीतर की शुद्धि अशुद्धि को नहीं जानते, जो श्रेष्ठ आचरण से रहित, असत् भाषण करते हैं, जो जगत के आश्रय परमाश्रय को नहीं जानते, जो जगत में विषय भोगों में परम सुख मानते हैं, जो मिथ्या ज्ञान को ही सत्य ज्ञान मानते हैं, जिनकी बुद्धि मन्द है जड़ है—यह आसुरी वृत्ति वाले हैं।

जो सभी का अहित अपकार करने में तत्पर रहते हैं, जो क्रूर कर्मी दूसरों को नष्ट करने में लगे रहते हैं, जो दम्भी, अभिमानी, कभी पूर्ण न होने वाली कामनाओं की ही पूर्ति में लगे रहते हैं— यह सब आसुरी वृत्तियाँ हैं।

जो सम्मोहित बुद्धि से, झूठे सिद्धान्तों के पीछे, सदाचरण से भ्रष्ट होकर परस्पर बर्ताव करते हैं, जो मरणकाल तक चिन्ताओं से ग्रसित, भोग जनित सुखों में ही आसक्त रहते हैं; भोग सुखों के अतिरिक्त और कुछ मानते ही नहीं—यही दानवी आसुरी प्रकृति के जीव हैं।

व्यर्थ वार्ता न करके ईश्वर के पावन जप करते रहो। मौन अधिक से अधिक रहो।

भगवान के गुण सबमें देखो दोषों से दृष्टि हटा लो।

निःस्वार्थ सेवा करो। प्रेम से हृदय को भरे रहो।

मनोरंजन के लिये घूमने के लिये तीर्थों में नहीं जाओ।

अवकाश के दिन खान—पान में, खेल में समय नष्ट न करो, स्वाध्याय करो।

सत्संगी हो तो व्यापार के लाभ, लोभ के लिये सन्त के पास नहीं जाओ।

जहाँ रहो वहाँ किसी की सुख सुविधा में बाधा न डालो।

कभी व्यर्थ वार्ता में, पर निन्दा में, समय नहीं बिताओ।

तीर्थ में सन्त महात्मा रूप में तीर्थ की खोज करके सत्संग अवश्य करों।

मानस तीर्थ–

तीर्थों से लौटकर सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, दया, सरलता, मृदुभाषण, ब्रह्मचर्य, दान, ज्ञान, दम, धृति पुण्य इन सभी मानस तीर्थों का सेवन करो।

श्रद्धा रहित, पापी, नास्तिक, संशय करने वाला, कुतर्की इन पाँच प्रकार के लोगों के तीर्थ सेवन करने पर भी पुण्य नष्ट होते रहते हैं।

तुम जहाँ रहो वहाँ पाप से बचो पुण्य ही बढ़ाते रहो। आत्मा के ज्ञान में जागे रहो।

जो सैकड़ों आशाओं में बंधे हुए हैं, जो कामी क्रोधी लोभी रहकर धन संचय में लगे हैं, जो मन रूपी रथ में बैठकर जगत की अगणित वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं–यह आसुरी प्रकृति के लोग हैं।

जो अपने को सर्वोपरि स्वामी कर्ता धर्ता भर्ता मानते हैं, जिनके अहंकार में महत्वाकांक्षा का ज्वर चढ़ा ही रहता है, जो पर निन्दक घमण्डी हिंसक होते हैं, जिनके मन में प्रबल मोहासक्ति है और चित्त भ्रमित है, जो अपने मान और

नाम के लिये यज्ञादि में पाखण्ड करते हैं, जो द्वेष से दूषित बुद्धि द्वारा पापाचार करते हैं––ऐसे कुलक्षणों वाले आसुरी भाव के व्यक्ति हैं। (गीता 16/7 से 18)

हम सभी साधकों को गीता में वर्णित इन आसुरी कुलक्षणों को जानते हुए ध्यान से देखना चाहिये कि अपने में कौन–कौन आसुरी वृत्ति, किस समय प्रगट हो जाती है? और देव भावना अर्थात् परमेश्वर के दिव्य गुण कब कितने अंश में प्रगट होते रहते हैं। दैवी गुणों से ही सद्गति होती है। आसुरी दुर्भावों से दुर्गति होती है।

भगवान को ही ज्ञात है कि अनेक जन्मों की साधना से अन्तःकरण पवित्र होता है, इसी संसिद्धि से सुलभ होने पर पुनः योगाभ्यास रूपी अति प्रयत्न से पापों से छूटकर (ध्यान योग, ज्ञान योग, प्रेम योग) द्वारा परमगति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। (गीता 6/45)

कुछ तो सुनना ही है तब सत् चर्चा एवं सन्त की बातें सुनो। कुछ बोलना ही है तो यथार्थ मधुर प्रिय वचन बोलो। कुछ करना ही है तो सेवा कर्म का अभ्यास बढ़ा लो।

कुछ न कुछ पढ़ते ही हो तो गीता रामायण उपनिषद पढ़ो। कुछ देना ही है तो शुभ सुन्दर पवित्र का दान करो।

ममता करनी है तो विरक्त सन्त से करो, भगवान से करो।

कुछ छोड़ने का साहस हो तो ममता, सुखासक्ति तथा इच्छाओं कामनाओं को छोड़ो।

किसी को अपना मानते ही हो तो भगवान को अपना मानो। जानना है तो अपने स्वरूप को जानो।

जब तक शक्ति है तब तक सेवा करते रहो। धन है तो निर्बल की सहायता करते रहो। विद्या है तो नित्य विद्यमान सत् परमात्मा को देखो।

तोड़ना है तो विनाशी के प्रति मोह, लोभ अथवा ईर्ष्या द्वेष के सम्बन्ध को तोड़ो।

पकड़ना है तो सद्गुणों को पकड़ों।

धन्यवाद देना है तो रसना, नेत्र, कान अथवा शरीर आदि के दाता को धन्यवाद दो।

हमें समझाया गया है कि–मानव की मानवता पर कोई बल विजयी नहीं हो सकता।

प्राकृतिक विधान से जो कुछ भी तुम्हें मिला है वह संग्रह के लिये नहीं, प्रत्युत देने के लिये मिला है। दोषों के त्याग से अथवा सुखद सुन्दर एवं पवित्र वस्तु के दान से और प्रेम से ही मानवता पूर्ण होती है।

सभी प्रकार के बलों को सेवा में सुदपयोग करने से बलों की वृद्धि होती है, दुरुपयोग से दुर्बलता बढ़ती है।

मानव वही, जो अपने ऊपर अपना शासन रखता है और दूसरो के शासन से मुक्त रहता है।

जो मनुष्य व्यक्तित्व का मोही है, तथा वस्तुओं एवं धन का लोभी है जो अधिकार का भोगी है, वह बहुत बड़ा विद्वान होने पर भी अन्याय करना नहीं छोड़ सकता।

ध्यान से देखो! तुम जितनी मात्रा में, मोही लोभी, सुखासक्त, अभिमानी हो उतनी सीमा तक कर्तव्य परायण न्यायी एवं स्वतन्त्र नहीं हो, इसीलिये मानवता से विमुख हो।

स्वतन्त्र होने के लिये संग की आसक्ति छोड़नी होती है। आसक्ति तभी छूटती है जब मिली हुई वस्तु तथा मिले हुए सम्बन्धियों के शरीर अपने नहीं प्रतीत होते। अपना क्रुछ भी न मानने से और सभी कुछ दाता प्रभु का जानने से ममता रहित सेवा पूर्ण होती है।

हमें सन्त ने सावधान किया है कि असत् के लिये संघर्ष करोगे तो तुम में कुरूपता बढ़ जायेगी।

बुराई के लिये संघर्ष करोगे तो विकृति आ जायेगी। जो कम मिला है उसके लिए संघर्ष करोगे तब शक्ति आत्मघाती बन जायेगी।

तुम सत्य के लिए, जीवन सौन्दर्य के लिए, स्वस्थ एवं आत्मस्थ होने के लिए संघर्ष करो, तुम परमात्मा के लिये संघर्ष करो तब तुम देहस्थ, धनस्थ, पदस्थ, अस्वस्थ न रह कर स्वस्थ, आत्मस्थ हो कर जीवन–दर्शन कर सकोगे।

अभी तक तुमने जिसके लिये संघर्ष किया है, तुम्हें उसी मय होना पड़ा है, लेकिन तुम देख नहीं सके हो।

आज तुम जिन सुखद प्रतीत होने वाली वस्तुओं, व्यक्तियों से घिरे हो अथवा जिस वैभव अधिकार के भोगी बने हो, उसी के लिए तुमने संघर्ष किया है, उसे ही कभी चाहा है।

आज तुम जिसके लिए गुप्त या प्रगट रूप में संघर्षरत हो उसे कभी न कभी तुम्हें प्राप्त करना होगा, वही तुम्हारे जीवन का घेरा बनेगा।

हमें यह भी समझाया गया है कि धन हानि से, प्रिय वियोग से तुम्हें दुःख नहीं होता। सम्बन्ध जोड़ने से दुःख होता है। अपना मानने पर ही सुख–दुःख की प्रतीति होती है। एक भवन जल रहा है उसके जलने का दुःख उसे ही होता है, जो उसे मेरा मानता है। मेरापन ही 'मैं' का घेरा है, कारावास है।

भगवान के निर्णय अनुसार चलने वाले सन्तजन, शरीर के रोगी के लिए ही नहीं, वह तो मन के रोगी मनुष्य के प्रति करुणा करते हैं। तन के रोगों का उपचार वैद्य, डाक्टर कर लेते हैं परन्तु मानसिक रोगों को सन्त, गुरुजन ही देख पाते हैं। मूर्ख ही नहीं बड़े–बड़े विद्वान भी अहंकार वश मन के रोगों का उपचार नहीं कर पाते, इसीलिए मानवता विकसित नहीं हो पाती।

प्रायः अनेकों विद्वान सेवा के लिये सत्ता, सम्पत्ति चाहते हैं, उनके मत से सत्ता, सम्पत्ति के बिना सेवा हो ही नहीं सकती परन्तु गुरु निर्णय अनुसार सेवा करने से ही सत्ता–सम्पत्ति का सुयोग मिलता है। इसीलिये जो कुछ भी प्राप्त है, उसी शक्ति से यथा योग्य सेवा करनी चाहिए, सेवा के बदले में कोई आशा नहीं रखनी चाहिये।

सेवा की पूर्णता के लिये श्रद्धा, पूज्यभाव तथा नित्य चेतन आत्मा का ज्ञान, निष्काम प्रीति, दक्षता, विवेक, निर्भयता, आलस्य का विरोध, श्रम में उत्साह आदि सद्‌गुणों का सहयोग अनिवार्य है।

अज्ञानी जिस शक्ति के द्वारा भोगी बनकर घोर दुःख भोगते हैं, ज्ञान के साथ साधक उसी शक्ति के सदुपयोग से योगी होकर परमानन्द का अनुभव करते हैं। इसीलिए अज्ञानी के अधिकार में शक्ति का होना बहुत ही अशुभ है।

गुरु निर्णय अनुसार जिसका हृदय उदार है, जो स्वाधीन है, प्रेम में तृप्त होकर देने योग्य को देता ही रहता है, वही ज्ञान में जाग्रत मानव है।

जिसमें काम, क्रोध, लोभादि दोष है, वही असत् संगी मनुष्य है। जो ज्ञान का आदर एवं सभी प्रकार के बलों का सेवा में अथवा परहित में सदुपयोग करता है, वही सत्संगी साधक है।

सत्संगी साधक में आस्था, विश्वास, श्रद्धा पूर्वक परमात्मा में ही आत्मीयता होती है। सत्संगी साधक ज्ञान पूर्वक अनित्य दृश्य से असंग एवं ममता रहित निष्काम रहकर नित्य सत्य में ही प्रतिष्ठित रहता है। यही मानवता की पूर्णता है।

सर्व भाव से एक मात्र परमात्मा ही अपने हैं––ऐसी आत्मीयता में ही अखण्ड स्मृति, अगाध प्रीति होती है। तुम उदार हुए बिना जगत की सेवा कर ही नहीं सकते, स्वाधीन हुए बिना मुक्त हो ही नहीं सकते और प्रेम की पूर्णता बिना भक्त हो ही नहीं सकते। निर्धनों और अशिक्षितों को परमात्मा का योग पाने से कभी निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि परमात्मा और प्रकृति उतना

ही निर्धनों तथा अशिक्षितों के साथ है जितना संसार के धनवानों, विद्वानों के साथ है। परमात्मा सभी के साथ एक समान है। अवश्य ही नित्य प्राप्त परमात्मा के दर्शन के लिए दिव्य चक्षु खुलने की अपेक्षा रहती है।

यह भी गुरु निर्णय है कि यह विश्व परमेश्वर की ही विराट देह है। इस विराट रूप का दर्शन दिव्य चक्षु द्वारा ही होता है।

विभिन्न मिन्नताओं में अभिन्न परमात्म तत्व का दर्शन कराने वाली दृष्टि को ही दिव्य चक्षु कहते हैं।

यह भी गुरु निर्णय हैः–– यदि तुम दर्शन के अधिकारी होना चाहते हो तो अपनी दृष्टि को दूसरों के दोषों को देखकर दूषित न करो। तुम अपने में गुणों का अभिमान न आने दो। जब कोई तुम्हें गुणवान मानकर तुम्हारी सेवा करे तब उसकी उदारता को धन्यवाद दो।

तुम समग्र प्रेम, अपने प्रभु को लौटा दो और समाज से जो मान, प्यार, अधिकार आदि लिया है, वह सब उदारता पूर्वक समाज को, सेवा पथ से वापस कर दो।

यह भी गुरु निर्णय है :–

जगत के संग से इच्छाओं का अन्त होता ही नहीं। परमात्मा के योगानुभूति से इच्छायें रहती ही नहीं। जीवन के बाहरी प्रदेश में काम ही काम है और जीवन के अन्तरदेश में केवल राम ही राम हैं। इसीलिये राम के प्रेमी बाहर न भटक कर अन्तर में उतरते हैं। चेतना की गहराई में उतरते ही, डूबते ही परमात्मा में होते हैं।

जिससे किसी को भी अणुमात्र भय नहीं होता वही सबका प्रियतम आत्मा है, परन्तु अहंकारी, प्रमादी ऐसे प्रियतम आत्मा को नहीं जानते।

तुम इसी क्षण कुछ भी न करके शान्त होकर अहंभाव के पीछे चेतन आत्मा का अनुभव कर सकते हो। शून्य होते ही जो पूर्ण भरा है वहां प्रियतम आत्मा है। आत्मा की खोज आत्मा से ही आरम्भ होती है।

यह भी गुरु निर्णय हैः–– तुम्हारा मन भले ही विषय विष में सना हो पर स्वरूप से तुम नित्य अमृत में ही हो। तुम्हारा मन भले ही भूतकाल या भविष्य के मनन चिन्तन में व्यस्त हो परन्तु तुम स्वरूप से नित्य वर्तमान सत्य में ही हो।

तुम्हारा मन भले ही अपनी मान्यताओं की सीमा में आबद्ध हो परन्तु तुम निरन्तर असीम अखण्ड परमात्मा में ही हो।

विचारों को शान्त होने की भावना करो। शरीर की स्थिरता को, स्वास की सहज धीमी गति को, मन की एकाग्रता को और विचारों की शून्यता को साक्षी होकर देखो। जितनी देर शान्त रह सको यही देखते रहो।

जिसे तुम देखोगे उससे भिन्न होकर ही देख सकोगे। सुख–दुख को भी साक्षी की भांति देखो। भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी के भी दृष्टा बने रहो। अपने पास रहकर अथवा आत्मा के निकट मन, बुद्धि को रखकर उपवास करो। अनशन व्रत कहते हैं कुछ भी न खाने को और उपवास कहते हैं अपने आराध्य देव के निकट आवास रहने को उपवास कहते हैं।

गुरु निर्णय अनुसार साधक के लिए पाप नाश और पुण्य प्राप्ति के उपाय :–

1– वस्तुओं तथा सम्बन्धियों की आसक्ति छोड़कर भगवान में आसक्ति बढ़ाओ।

2– कामनाओं को त्याग कर केवल भगवत प्रेम की ही कामना करो।

3– घर–परिवार की ममता छोड़कर केवल भगवान में ही ममता करो।

4– अहं ज्ञान से सम्बन्धाकार हटा कर केवल प्रभु के सेवक होने का अहंकार करो। भीतर से किसी के कुछ न बनो।

5– दम्भ दर्प से बचो। मान न चाहो। शान छोड़ दो। गर्व न करो। क्रोध न करो। काम वासना से बचो। नाम की इच्छा छोड़ दो। लोभ, मोह, द्रोह, द्वेष का त्याग करो। वैर तथा राग–रंग–कुरंग से बचते रहो। इन सभी दोषों को ध्यान से देखते रहो, दोषी न बनो। संगासक्ति ही दोषी बनाती है।

6– क्रोध करना है तो भीतर के दुर्गुणों पर करो।

7– लोभ करना है तो भगवान के भजन का करो।

8– मोह करना है तो भगवान की महिमा से, दिव्य गुणों से करो।

9– संग करना है तो भगवद् भक्तों का तथा संतो का करो।

10– आसक्ति करनी है तो सत्संग में आसक्ति रखो।

11– सात्विक भोजन करो। देह शुद्धि के लिए स्नान करने में आलस्य भय न करो। मासिक, पाक्षिक व्रत उपवास करो।

12– सत्कथा श्रवण करो, परमात्मा का स्मरण करो, आत्मा के ध्यान में शान्त मौन रहो। प्रारब्धानुसार धन–धान्य सम्पन्न हो तो परान्न भोजन न करो और किसी से धन लेकर संग्रह न करो। इससे पुण्य क्षीण होते हैं। पुण्यों की वृद्धि के लिए तीर्थों में सुपात्र को, प्रबन्ध करने वालों को दान करो।

मनुष्य के विकास क्रम को जानने वालों का यह निर्णय है कि उत्तम साधक वे हैं, जो ध्यान से ज्ञान में जाग्रत रह कर सहज स्वरूप में शान्ति, आनन्द से तृप्त रहते हैं। मध्यम कोटि के वे साधक हैं जो ध्यान धारणा के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करते हुए अभ्यास में तत्पर रहते हैं। तृतीय कोटि के साधक प्रतिमा, पूजा में जप अनुष्ठान, पाठ, कीर्तन में अटके रहते हैं। चतुर्थ कोटि के वे लोग हैं जो हवन, यज्ञ, तीर्थयात्रा, व्रत, तप से अहंकार को सन्तुष्ट करते हैं। कूप में रहने वाले मेढक की भांति जो इन्द्रियों के विषय सुखों में रचे पचे हैं, जिन्हें धन, मान, भोग के आगे कुछ दीखता ही नहीं है, ऐसे मनुष्यों को अवश्य ही यज्ञ, होम, तीर्थयात्रा करना आवश्यक है। तीर्थों में साधु–सन्त का समागम करना चाहिए, पुनः घर में लौट कर जप, व्रत, अनुष्ठान ध्यानाभ्यास से मन को पवित्र करते हुए प्रभु कृपा से यथार्थ साधना का पथ सुलभ हो ही जाता है, लेकिन गुरु विवेक में जो साधक सजग, सावधान नहीं रहते वे साधना के फल भोग में भटक जाते हैं। सिद्धियों के चमत्कारों के चककर में फंस जाते हैं।

शास्त्रों में श्रवण मनन निदिध्यासन के लिए आग्रहपूर्वक बताया गया है:–– गुरु वाक्यों के श्रवण से आत्मा की, देहादिक वस्तुओं से तादाम्यता की अर्थात् तद्रूपता एकता की, भ्रान्ति दूर होती है। मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान स्वरूप आत्मा ही है। निदिध्यासन से स्पष्ट होता है कि आत्मा अनन्त है, यही आनन्द है।

महर्षि रमण कहा करते थे कि जब तक समाधि सुलभ न हो जाये तब तक श्रवण आदि साधन नहीं छोड़ना चाहिये। आलस्य प्रमाद से सावधान रहना चाहिये।

अज्ञान में इतना अधिक अभ्यास दृढ़ हो गया है कि देह ही अपना रूप मालूम देता है। मन में जो भी कष्टों के रूप वेदना होती है वह अपने को ही हो रही दीखती है, इसीलिये हम कहते हैं कि हमें दु:ख है, हमें सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास लग रही है, हमारा सम्मान अपमान हो रहा है; इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है और इसके लिये गुरु वाक्यों का श्रवण मनन अत्यावश्यक है।

सूक्ष्म शुद्ध बुद्धि में श्रवण का तत्काल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि जितना अधिक तादात्म्यता होती है, जितने अधिक संशय होते हैं, जितना अधिक मन मलीन होता है, एवं अज्ञान होता है उतना ही साधना में श्रम की अपेक्षा रहती है।

यह गुरु सम्मति है कि जो प्रभु चर्चा के प्रेमी हैं, जो श्रद्धालु, जिज्ञासु हैं, उन्हीं के समक्ष प्रभु चर्चा, संत चर्चा करो। अश्रद्धालु, नास्तिक, आसुरी

प्रकृति वाले मनुष्यों की संगति से अपने को दूर ही रक्खो। भक्त सूरदास जी ने अपने मन को यही समझाया है :––

तजौ मन हरि विमुखन को संग।।
जिनके संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग।।
कहा होत पय पान कराये, विष नहि तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुनाये, स्वान नहाये गंग।।
खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन अंग।
गज को कहा सरित अन्हवाये, बहुरि धरे वह ढंग।।
पाहन पतित बाण नहि बेधत, रीतो करत निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै चढ़त न दूजो रंग।।

हमें सावधान किया गया है कि तुम अपने निर्माण के लिए स्वयं ही पत्थर की भांति हो और स्वयं ही कारीगर की तरह हो अतः स्वयं ही अपना निर्माण अपने द्वारा करो।

तुम्हें जो शक्ति एवं साधना उपलब्ध हैं, उनके द्वारा शुभ–अशुभ कुछ भी बन सकते हो।

हमें समझाया गया है कि बार–बार देखो मन का मूल श्रोत कहां है? अहंकार का उदय कहां से होता है? गहरी निद्रा में अहं विलीन हो जाता है। जाग्रत में अहंकार का उदय होता है अहंकार का जन्म ही व्यक्ति का जन्म है। जिस का जन्म है, उसी की मृत्यु है अर्थात् सम्बन्ध विच्छेद है।

अहंकार के मरने पर आत्मा शेष रहती है, यही आनन्द स्वरूप है। शुद्ध, चैतन्य है, यहीं से समस्त गतियों का आरम्भ होता है।

केवल सत्य चेतन ही, अभी प्रत्यक्ष ज्ञान है इसी ज्ञान में विनाशी वस्तुओं के नाम रूप भर गए हैं वह ज्ञान ही वस्तुमय, व्यक्तिमय सम्बन्ध मय हो रहा है।

जो एक है अनन्त है असीमित है शाश्वत है पूर्ण है वही ज्ञान स्वरूप में प्रभु का अद्‌भुत चमत्कार है।

सन्त ने साधना बताई कि शान्त रहो संकल्प रहित होकर अनुभव करो कि 'ज्ञान स्वरूप आत्मा ही हूँ।'

बहुत ही तत्परता से तीव्रता से ध्यान द्वारा यही अनुभव करो कि मैं आत्मा हूँ। देहादिक वस्तु नहीं हूँ।

हमें यह भी समझाया गया है कि आत्मा तो अहंकार के बिना है ही लेकिन अहंकार आत्मा के बिना नहीं हो सकता। भीतर देखो आत्मा ही आत्मा, नित्य चेतन आत्मा ही आत्मा, ज्ञान स्वरूप आत्मा ही आत्मा है। आत्मा को उपधियों में लपेट कर नहीं देखो।

एक चेतन बिन्दु में एकाग्र होकर विलीन होना ही समाधि है।

देह को मैं मानना अथवा देह को आत्मा मानन, अपनी मानना, देह में प्रीति करना, सुन्दर मानकर आसक्त होना, परिवार की देहों को अपना सम्बन्धी मान कर ममता करना, यही अज्ञान में होने वाला सुख के अन्त में दुःख देने वाला पाप है। इस पाप की निवृत्ति आत्मा के बोध से ही होती है।

देह को आत्मा न मानने से आत्मा को देह से भिन्न समझने से काम की निवृत्ति होती है। आत्मा में प्रीति स्थिर हुए बिना काम का नाश नहीं होता। अपने देह मानने से दूसरों को देह मानने से काम सबल रहता है।

हमें समझाया गया है कि बार बार मन को ह्रदय में विलीन करते रहो। मन तो सिनेमा की रील की भांति चलता रहता है, अहंकार रूपी जीव इसी रील में उलझा रहता है।

मन को निरन्तर खोजते रहो, देखते रहो तब मन विलीन हो जायेगा। जब मन आत्मा में विलीन होता है तब कष्ट नहीं रह जाते।

साधनाभ्यास द्वारा जब सभी संकल्प विलीन होते हैं तब उस शून्यता में स्वरूप स्थिति होती है।

हमें यह भी बताया गया कि सम्पत्ति से वंचित रहना साधक के लिये बड़े सौभाग्य की बात है। सबसे बड़ा सुख सम्पत्ति रहित होकर सन्तोष पूर्वक निश्चिन्त रहने में मिलता है। सम्पत्ति लेकर रखने से चिन्तायें उत्पन्न होती हैं अतः सम्पत्ति प्रारब्धाधीन स्वतः सुलभ हो जाये तो शीघ्र ही वितरण कर देना, सेवा में लगा देना।

तुम ध्यान तभी ठीक समझना जब मन वश में रहे। ज्ञान उसे ही समझना जब संकल्पों की निवृत्ति हो जाये। केवल आत्मा ही तो सत् है, उसका ही सत्संग करना सच्चा सत्संग है।

केवल कथायें सुनकर अथवा प्रवचन सुनकर सन्तुष्ट होते रहना सात्विक मनोरंजन है। मनन रहित श्रवण मात्र से अहंकार से मुक्ति नहीं मिलती। ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है, अज्ञान की निवृत्ति होती है।

गीता में कहा है कि 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, आत्मा में मन को स्थिर करो। मन का निरसन हो जाना ही आत्मस्थ होना है।

हमें सावधान किया गया है कि ध्यानाभ्यास में जब कुछ अलौकिक दिव्य दर्शन होने लगे या चमत्कार घटित हो तब तुम इनमें अटक न जाना इनको महत्व न देना। महत्व देना मन की शान्ति का।

मानसिक शान्ति ही समाधि का परिणाम है, तुम समाधि लगाने के लोभी न बन जाना।

किसी प्रकार की वासना, कामना, समाधि में स्थिर नहीं होने देगी।

सन्त कहते हैं––या तो वासना कामना का त्याग करो, यदि नहीं कर सकते तो समर्थ प्रभु के प्रति अपने को समर्पण करो। जब संकल्प न उठे, पूर्ण निर्भरता में ही समर्पण होता है। संकल्पों का उठना ही आनन्द में बाधक है।

एक सन्त कह रहे थे कि संकल्पों के अभाव में न जगत है न जगदीश्वर है, केवल आत्मानन्द ही शेष रहता है। संकल्प ही तो सृष्टि रच लेते हैं। अशुभ संकल्पों की अपेक्षा शुभ संकल्प होना उत्तम है परन्तु शान्ति विश्राम के लिये सभी प्रकार के संकल्पों से रहित होना चाहिये।

संकल्प शून्य स्थिति में अस्तित्व का बोध ही आत्मा का साक्षात्कार है। सन्त ने बताया——कि ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा न हो। आत्मा प्रत्यक्षानुभव है। तुम आत्मा को देह से कदापि न मिलाओ।

जिन्हें सन्त समागम सुलभ नहीं होता उन्हें सारा जीवन धन मान भोग के लिये ही बिताना पड़ता है। तुम्हें श्रवण मनन अध्ययन का अवसर सुलभ है अब प्रमाद आलस्य न करो।

तुम अपने 'मैं' को किसी सम्बन्ध से अथवा नाम रूप आदि उपाधि से सीमित करते हुए स्वयं बन्धन में पड़े हो और दुराग्रही असत्याग्रही बन रहे हो। अब न कुछ बनो और वृत्ति को केवल 'मैं' पर ही ठहराओ 'यह' से न मिलाओ।

धैर्यवान होकर मन की वृत्ति को अन्तर की ओर मोड़ते रहो।

जिन्हें जगतमय प्रभु ही दीखते हैं वह अपने कर्मों के फलों द्वारा अथवा सद्विचार एवं सद्भावों द्वारा जगतमय प्रभु की पूजा करते रहते हैं। दर्शन की दृष्टि खुलने पर इसी प्रकार की पूजा करोगे।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि जो कुछ साधना, भजन, सेवा, पूजा, आराधना करते हो उसे करते हुए अपने आस पास के लोगों को अथवा अपने अनुयायी जनों को यह सब साधना न करते देखकर उन पर क्रोध न करना, घृणा निन्दा न करना और यदि ऐसा करते हुए अपने को देखना तो उसी क्षण अभिमान का त्याग करके सरलता विनम्रता पूर्वक प्रभु की कृपा का स्मरण करते हुए कृतज्ञता प्रकट करना।

दरिद्र अहंकार को मान की बहुत तृष्णा रहती है इसीलिये गृहस्थ भूमि भवन शक्ति सम्पत्ति योग्यता पदाधिकार बढ़ाकर मान चाहता है और वही अहंकार जब शुभ संस्कार एवं प्रारब्धवश साधु सन्यासी त्यागी विरागी बनता है तब त्याग विराग अथवा चमत्कारों का प्रदर्शन करते हुए श्रद्धालु जनों से सन्मान प्रतिष्ठा पूजा चाहते हुए अपनी भाग्यशीलता को कुण्ठित कर देता है।

एक सन्त ने हमें समझाया कि जब तुम अपने आराध्य प्रभु को अन्तर्यामी सर्वज्ञ व्यापक मानते जानते हो तब जो कुछ तुम्हारी समस्या हो अथवा जो भी प्रश्न हो उसे अपने हृदय निवासी प्रभु से पूछो, मौन होकर वार्ता करो सब कुछ कह दो शान्त रहो और निर्भय निश्चिन्त रहो समाधान हो जायेगा उत्तर मिलेगा अथवा जो होना चाहिये वह स्वतः हो जायेगा।

यदि तुम किसी मूर्ति में आस्था विश्वास रखते हो तो उसी से एकान्त में सब कुछ कहते रहो, वह प्रभु उसी रूप से सुनेगा और जो चाहते हो वह करेगा।

यदि तुम निष्काम प्रेमी हो तब तो कुछ न कहो श्रद्धा आत्मीयता पूर्वक सेवा करते रहो, स्वतः ही जो होना चाहिये होता रहेगा।

निष्काम होने पर कोई चाह कोई मांग, कोई शर्त नहीं रहती, प्रभु के प्राकृतिक विधान से जो कुछ भी होता है उसमें कोई भूल नहीं दीखती—ऐसा प्रेमी भक्त सब कुछ को स्वीकार करता चला जाता है।

भगवान के मतानुसार निष्काम भक्त अथवा सन्यासी वहीं है जो सेवा एवं परोपकार अथवा कर्तव्य कर्म करते हुए उसे स्मरण न रहे कि 'मैंने यह किया है!'

जो शुभ कर्म, परोपकार फलाशा न रखकर आसक्ति रहित होकर किया जाता है वह कर्म योग का साधन हो जाता है।

सन्यास की पूर्णता त्याग और प्रेम की पूर्णता तभी होती है जब कर्म तो होता रहता है परन्तु कर्ता नहीं रहता। जब कर्ता अहंकार नहीं रहता तब लोभ, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, भय, क्रोधादि विकार भी नहीं रहते। ऐसे पुरुष को ही नित्य सन्यासी कहा गया है।

जो नित्य सन्यासी नहीं होते वह ज्ञानचर्चा, सत्चर्चा करते हुए तो शान्त रहते हैं परन्तु जब किसी प्रकार की हानि दीखती है तब अशान्त क्रोधित चिन्तित हो जाते हैं। जब तक कर्ता भोक्ता अहंकार रहता है तब तक नित्य सन्यास अथवा पूर्ण त्याग एवं पूर्ण प्रेम का दर्शन नहीं मिलता।

गृहस्थ जीवन में फलाकांक्षा रहा करती है, संकल्पों की पूर्ति का प्रयतन चलता रहता है, अहंकार जमे हुए बर्फ की भांति कठोर रहता है इन तीनों से जो पार हो जाता है उसी को विद्वान सन्यासी कहते हैं।

जिसमें इच्छायें नहीं हैं संकल्प शान्त हो गए वह घर में रहते हुए सन्यासी माने जाते हैं।

सज्जनों की संगति के प्रभाव से बालक भी तीर्थों में जाते हैं, मन्दिरों में दर्शन करते हैं, मूर्ति का श्रृंगार करते हैं या कराते हैं, कीर्तन करते हैं कुम्भ मेलों में सन्तों के दर्शन करते हैं, प्रवचन सुनते हैं या सन्त सम्मेलन के द्वारा जनता को सुनवाते हैं यह सब शुभ कर्मों से सन्मार्ग में प्रगति उन्नति होती है परन्तु जब तक सात्विक श्रद्धा सहित ज्ञानी विरक्त भक्त की संगति से सद्विवेक नहीं होता तब तक सद्गति परमगति नहीं हो पाती।

प्रायः अविवेकपूर्वक भगवान अथवा भगवती का श्रृंगार तथा कीर्तन एवं व्रतपूर्वक रात्रि जागरण आदि मनोरंजन ही बन जाता है इसीलिये ऐसे लोगों में दोषों का नाश, सद्गुणों का विकास एवं ज्ञान का प्रकाश और प्रेम में परमप्रभु का निवास नहीं हो पाता है।

एक सन्त ने बताया कि सच्ची साधना वही है जिसके द्वारा वह साधक मानव जो अभी शवमय है अर्थात् देहमय है वह शिवमय, परम आत्मा मय बन जाये। विवेकी साधक वहीं है जिसे वह जगत परमेश्वर का विराट शरीर दीखने लगे और प्रत्येक कर्म द्वारा इसी विराट रूप की पूजा करता रहे।

हमें समझाया गया है कि तुम किसी आलसी प्रमादी से साधन भजन न करने वाले अथवा ईश्वर को न मानने वाले की निन्दा न करो। उससे घृणा न करो, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हारे भीतर अहंकार की पुष्टि होगी। यह निश्चित है कि प्रत्येक आलसी प्रमादी विलासी कभी श्रमी विवेकी संयमी होगा। प्रत्येक नास्तिक अभिमानी को प्राकृतिक विधान से कभी न कभी शान्ति के लिये आनन्द के लिये अथवा अज्ञान की निवृत्ति के लिये प्रभु से प्रार्थी होना ही पड़ेगा।

समग्र प्रेम भाव से भगवान की महिमा गान करने वाले भक्तों का एकचित्त होना सरल नहीं है।

भूखों को भोजन कराने का अवसर मिलना इसके लिये किसी मन संकल्प होना सरल नहीं है।

किसी महान वीतराग सन्त के दर्शन सुलभ होना थोड़े पुण्य से सम्भव नहीं है।

सन्तों संगति करते हुए गुरु की सेवा अथवा साधना करते हुए विवेक प्राप्त होना सरल नहीं है।

जब पुण्यों की अधिकता होती है श्रद्धा प्रबल होती है अभिलाषा बहुत तीव्र होती है, सुविधा का सुयोग होता है तभी भगवद् कृपा से भक्तों का सन्ता का और सेवा का सुअवसर प्राप्त होता है।

गांव के लोग अपने साथ धन बढ़ जाने से या बल बढ़ जाने से इसीलिये नष्ट हो जाते हैं क्योंकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की समृद्धि को नहीं सह पाता। सेवा, त्याग प्रेम का विवेक न होने के कारण समाज अपनी प्रगति से दूसरों की प्रगति को रोकने के कारण प्रतीत होता है। कुछ ही विवेकी विद्वान हैं जो दूसरे को श्रेष्ठ बुद्धिशीलता एवं श्रमशीलता देखकर प्रोत्साहित करते हैं, सहायक होते हैं वे ही पुण्य के भागी बनते हैं, जो ऐसा नहीं कर पाते वह पुण्यों को खोकर पाप के भोगी होते हैं।

मनुष्य जितना अधिक लोभी अभिमानी देहों का मोही होता है उतना ही द्वेषी क्रोधी अधिक बन जाता है।

सन्त ने हमे समझाया है कि मन में ईर्ष्या द्वेष क्रोधादि विकारों का वेग बढ़े तब दृढ़तापूर्वक मन को रोककर किसी प्रकार एक घण्टा भगवान का नाम स्मरण अथवा अभ्यस्त मन्त्र का जप करो तब वह वेग शान्त हो जायेगा, पाप से बच जाओगे।

ज्ञान चाहे जितना अधिक हो परन्तु अवसर पर धैर्य पूर्वक शान्ति न हो तो पतन ही होगा इसीलिये ज्ञान के साथ शान्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्ति साधना के साथ प्रेम का होना अत्यावश्यक है।

जब तक बुद्धि जड़ता तथा कुटिलता से मुक्त नहीं होती तब तक सन्त की बात समझना बहुत कठिन है।

एक महात्मा ने बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया है कि परम आत्मा महासागर की भांति है वह कालातीत, सीमातीत महासागर की लहर की तरह यह प्रकृति है। यह जीव उस विशाल लहर की बिन्दु मात्र है यह बिन्दु नाम रूप की परिधि में आबद्ध है। अब ध्यान ज्ञान भजन साधना के द्वारा नाम रूप की उपाधि को छोड़कर परमात्मा रूपी सिन्धु में परमविश्राम को प्राप्त करना है।

साधना को स्वीकार करने पर भी जीव मन के द्वारा अत्यन्त दुर्बल मन शक्ति सम्पन्न होता है।

श्रद्धा की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार शान्ति की अनुभूति होती है। हम साधकों को अधिकाधिक शान्त रहकर विवेक पूर्वक सत्कर्म को ही पूर्ण करते रहना चाहिये साथ ही कर्तापने के अभिमान को छोड़कर कर्म को होते हुए देखना चाहिये। सहस्रों साधक ऐसे हैं जिन्हें यह विवेक नहीं है, वह श्रम तो करते हैं परन्तु श्रम फल के भोगी अहंकार को नहीं समझ पाते हैं। ऐसे साधक मन को सुधारने के लिये, काम क्रोधादि से मुक्त होने के लिये शरीर के साथ दुर्व्यवहार करते हैं।

हमें गुरु विवेक ने सावधान किया है कि तुम भविष्य के लिये योजना बनाओं कोई महान शक्ति ही तुम्हारे हितार्थ योजना को सुनिश्चित किये हुए है उसी को देखते चलो।

हमें यह भी समझाया गया कि परमात्मा के मंगलमय विधान पर तुम विश्वास करो धैर्य को लेकर भक्ति भाव पूर्ण करो। यदि विरक्त होना चाहते हो तो धर्माचरण में कहीं प्रमाद न आने दों अशान्ति दूर करने के लिये ज्ञान में देखने की क्षमता बढ़ा लो। प्रेकी की पूर्णता के लिये भक्ति भाव सहित सेवा करो।

यह भी सन्त सम्मति है कि तुम उन लोगों से याचना न करो जो स्वयं भिखारी हैं।

तुम ऐसा ज्ञान प्राप्त करो अथवा ऐसे भक्त हो के रहो, ऐसा जीना सीखों कि न स्वयं दुखी बनो न दूसरों को दुखी करो।

हृदय को शुद्ध करने के लिये लोभ एवं अभिमान को छोड़ो, बुद्धि को तीव्र बनाओ और भगवान के नाम का अधिक स्मरण करते रहो। बुद्धि तीव्र होने के साथ हृदय भी विशाल होना चाहिये।

यदि बुद्धि तीव्र नहीं है तब तुम सन्तों महापुरुषों की सत्चर्चा में भ्रमित हो जाओगे क्योंकि ज्ञानी महात्मा को सब ब्रह्ममय दीखता है। योगी महात्मा को परमात्मा की शक्ति सर्वोपरि दीखती है और भक्त महात्मा को सब कुछ भगवान की लीला दिखाई देती है, इसीलिये सभी के निर्णय प्रवचन में भिन्नता होती है।

एक राज दरबार के महोत्सव में प्रसिद्ध महात्मा आमन्त्रित थे और वैश्या भी बुलाई गई थीं वैश्या को महात्मा की असन्तुष्टि का पता चला तब उसने यह गीत गाया था :–

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तुम्हारो सोई पार करो।।
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
सो दुविधा पारस नहि जानत कंचन करत खरो।।
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलि गए तब एक वरन ह्वय गंगा नाम धरो।।
तन माया ज्यों ब्रह्म कहावत सूर सुमिलि विगरो।
कै इनको निरधार कीजिये कै प्रन जात टरो।।

परम विद्वान सन्यासी अपने निवास स्थान से इस गीत को सुनते ही इतना प्रभावित हुए कि स्वयं जाकर वैश्या को प्रभु की आत्मा समझकर नमस्कार किया। घृणा के स्थान पर प्रेम प्रगट हो गयां।

भक्ति की साधना में सर्व भाव से भगवान की शरण में निर्भर रहना उच्चतम कोटि की भक्ति साधना है।

सब कुछ प्रभु की इच्छा पर छोड़ देना और सदा निर्भय रहना–यही निर्भरा भक्ति है। भक्ति की साधना से निरन्तर कृपा अनुकम्पा का अनुभव होता है।

यह गुरु चेतावनी है कि आयु बहुत कम है समय एक क्षण नहीं रुकता है परन्तु साधना कछुवे की सी चाल के समान मन्द है इसीलिये शक्ति संयम के द्वारा साधना में तीव्रता बढ़ाओं।

एक सन्त कह रहे थे कि पूर्ण वैराग्य एवं पूर्ण त्याग एक जन्म में पूर्ण नहीं होता। कई पीढ़ी, कई जन्म लग जाते हैं।

हमें बताया गया है कि तुम मरने के बाद की चिन्ता न करो वर्तमान जीवन को सुन्दर बनाओ इसके लिये उच्च शिक्षा प्राप्ति में ही सन्तुष्ट न हो जाओ अपितु सद्‌गुणों का विकास होने के लिये प्रयत्न करो। तुम दूसरों के व्यवहार शुद्ध होने की बाट न देखो अपने को शुद्ध करो। किसी से स्पर्धा न करो, परस्पर तुलना न करो, प्रतिष्ठा न चाहो। एक महात्मा को अपने सन्यासी होने के अभिमान का पता एक वैश्या के गीत से चला था।

सन्त से हमने सुना है कि चित्त शान्त हो शून्य हो मौन हो निर्विकार हो तब दर्शनीय तत्व का सत्य का बोध होता है।

जब कोई मनन नहीं होता, कोई संकल्प नहीं उठता उस स्थान में जिसका अनुभव होता है वही आत्मा है। जहाँ तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य का प्रवेश नहीं वही आत्मा है।

भगवान ने उद्धव जी से कहा है कि जो पुरुष वेदों का तो पारगामी विद्वान हो परन्तु परब्रह्म परमात्मा आत्मा के ज्ञान से रहित हो उसके परिश्रम का कोई फल नहीं है वह तो वैसा ही है जैसे बिना दूध की गाय का पालने वाला। (भा0 11/11/18)

भगवान ने ऊधव को समझाया है कि आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं प्रकाश है। उसमें अज्ञान आदि कोई विकार नहीं है। सबकी ओर सब प्रकार की अनुभूतियां आत्म स्वरूप ही हैं। भगवान कहते हैं कि मेरी प्राप्ति के जितने भी साधन हैं उनमें मैं तो सर्वश्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थों में मन वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियों से मेरी ही भावना की जाये। (भा0 11/29–19)

हमें सावधान किया गया है कि आत्मा कहो या भगवान कहो, भगवान से विमुख होने में ही समस्त क्लेश दुःख भोगने पड़ते हैं।

ज्ञान स्वरूप आत्मा को अथवा प्रेम स्वरूप भगवान को तुम सब नाम रूपों के साथ उसी प्रकार देखो जिस प्रकार विभिन्न नाम रूपों वाले आभूषणों में स्वर्ण देखा जाता है।

यह अहंभाव एवं समस्त वृत्तियां अथवा संस्कार, आत्मा से ही प्रकाशित होते हैं।

भगवान का निर्णय है कि विवेकियों का विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि इस विनाशी और असत्य देह द्वारा अविनाशी सत् तत्व को प्राप्त कर लें। (भा0 11/29–22)

यह भी भगवान का निर्णय है कि जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गए हैं और उनका त्याग कर चुके हैं वे ज्ञान योग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों एवं फलों से राग नहीं हटा है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न अत्यन्त विरक्त हैं न अति आसक्त हैं और पूर्व जन्म के संस्कार से श्रद्धा जाग्रत हो गई है वे भक्ति योग के अधिकारी हैं।

भगवान के मतानुसार जो साधक जितना ही अधिक निष्काम और निरपेक्ष होता जाता है उतनी अधिक शीघ्रता से भक्ति पूर्ण होती है। प्रेम में केवल भगवान ही सर्वभावेन भरे रहें––यही भक्ति की पूर्णता है। अपेक्षा कामना रहने तक अपूर्णता है।

गीत

जो सत्संग में नित्य आते रहेंगे।
उन्हें ज्ञान में प्रभु जगाते रहेंगे।।

जो श्रद्धालु प्रेमी बनेंगे विवेकी, वही मोह भ्रम को मिटाते रहेंगे।
मिलेगी नहीं शान्ति उनको कहीं भी, जो परमात्मा को भुलाते रहेंगे।।
जो जितना अधिक दान कर लेंगे जग में, वह पुण्यों की पूंजी बढ़ाते रहेंगे।।
न देंगे किसी को जो शुभ और सुन्दर।
कभी बैठे माखी उड़ाते रहेंगे।।
बनेंगे कभी मुक्त जीवन में वे ही।
जो चाहों को अपनी हटाते रहेंगे।
सुखी होंगे जो किसी को दुख देकर।
वह सौभाग्य अपना घटाते रहेंगे।।
उन्हें ही जगत में सभी सुख मिलेंगे।
जो दुखियों को सुख पहुँचाते रहेंगे।।
उन्हीं की बनी और बनती रहेगी।
जो बिगड़ी किसी की बनाते रहेंगे।।
जो कुछ भी मिला है रहेगा न सब दिन।
जो हैं मूढ़ वह मन फंसाते रहेंगे।।
पथिक अपने में अपने प्रियतम को पाकर, महोत्सव निरन्तर मनाते रहेंगे।।

————

हे दयानिधान तुम्हारे ही गुण गाते जायेंगे।
जो कुछ भी अपने मन में तुम्हें सुनाते जायेंगे।।
बस तुम्हीं एक ऐसे संगी हो दीख रहे जग में।
जो कभी न तजते हमें प्रेरणा देते पग–पग में।।
अब हम हर बहाने तुम्हें बुलाते जायेंगे।

जो कुछ भी मेरे लिये उचित है वही करोगे तुम।।
हे देव कभी न कभी मेरे सब दुःख हरोगे तुम।
तुमसे बल पाकर अपने दोष मिटाते जायेंगे।।
यह सच है प्रियतम तुम्हें खोजने दूर नहीं जाना।
दर्शन देने को दूर कहीं से तुम्हें नहीं आना।।
फिर भी हमको जाने कब तक तरसाते जायेंगे।
प्रभु क्या दूँ तुमको, जो कुछ है सर्वस्व तुम्हारा है।।
अपने इस तन मन पर भी क्या अधिकार हमारा है।
हम पथिक सदा तुमसे ही सब कुछ पाते जायेंगे।।

————

प्रभु स्मरण की पूर्णता में योग

अनेकों सन्तो से एवं शास्त्रों द्वारा स्मरण की बड़ी महिमा सुनी जाती है।

हमारे चित्ताकाश में जो भर जाता है मन में उसी दृश्य का मनन स्मरण चलता रहता है। भगवान के नाम स्मरण में जगत का स्मरण ही बाधक बनता है। प्रभु का स्मरण मात्र बहुत ही सुलभ साधन है।

जिसमें हमारी प्रीति है या जिससे द्वेष है उसी का स्मरण बिना प्रयत्न के चलता रहता है। किसी प्रकार भगवान के नाम रूप लीला धाम से प्रीति होने पर ही उसका स्मरण सहज हो पाता है।

जो हमसे भिन्न है दूर है उससे प्रीति होने पर उसकी प्राप्ति के लिए हमें कर्म करना होता है लेकिन जो परमात्मा हमसे अभिन्न है, दूर नहीं है उसके स्मरण आते ही वह प्राप्त मिलता है उसकी प्राप्ति के लिये श्रम नहीं करना पड़ता, इसीलिये भगवान ने कहा है कि जो मुझे अन्य न मानकर अभेद भाव से मेरा स्मरण जो कोई करता है, उस निरन्तर नित्य स्मरण करने वाले को मैं सुलभ हूँ। वह मुझसे निरन्तर मिला हुआ है, वह मेरा योगी है।

स्मरण का अद्भुत चमत्कार दूरदर्शी विद्वान ही जानते हैं। मन में जो भर जाता है उसी का स्मरण होता रहता है। पहले सुना जाता है फिर उसी का स्मरण होता है।

स्मरण से ही पाप पुण्य कर्म बनते रहते हैं। जिन्हें मेरी बातें प्रिय लगती हैं उन सभी मित्रों से मेरा निवेदन है कि तुम किसी के पापों–दोषों का स्मरण

न करो, उसके विपरीत किसी के पुण्यों एवं सद्‌गुणों का स्मरण करो, किन्तु वह सद्‌गुण भगवान के जानो।

जब किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में दीखने वाले सद्‌गुणों का स्मरण आये तब व्यक्ति के सद्‌गुण मानकर सर्व गुण निधान परमेश्वर को ही गुणों का श्रोत समझते रहो। जब किसी व्यक्ति में दोष दुर्गुण दीख जायें तब उस व्यक्ति को त्याग में असमर्थ जानकर उसे करुणा के भाव से देखो उसमें भी परमात्मा की सत्ता को चेतना को देखते हुए नमस्कार करो।

परम गुरु भगवान ने तो एक ही श्लोक में साधना बता दी–– प्रशान्त भाव से युक्त सब प्रकार के भय से मुक्त ब्रह्मचर्य व्रत का अवलम्बन करने वाला, मन को संयत करके सर्वदा चित्त को मेरे चिन्तन से युक्त रख कर मुझको ही परम गति जानकर मेरे साथ ज्ञान पूर्वक युक्त होकर निरन्तर एक होकर स्थिर रहे। (गीता 6/14)

यदि कोई साधक भगवान से ही भगवान को पाने का पता पूछे और वह मनुष्य की बातों में भ्रमित नहीं होना चाहे तो भगवान अपने पाने के लिये तथा अपनी पूजा, आराधना, उपासना के लिये किसी जिज्ञासु प्रेमी को किसी तीर्थ जाने के लिये अथवा अपना मन्दिर बनाने या मूर्ति प्रतिष्ठित करने की सम्मति नहीं देते, वह तो अपना अति निकट का ही पता बता देते हैं :–

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः 'मैं आत्मा के रूप में सभी भूत प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ सभी का आदि मध्य अन्त मैं ही हूँ। (गीता 10/20)

भगवान का यह भी निर्णय है कि जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह जगत व्याप्त है उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। (गीता 18/47)

हम अनेकों परमार्थी साधक प्रारब्धानुसार मिले हुए भूमि, भवन, परिवार को सब अनर्थों एवं बन्धनों का कारण मानकर इन सबके त्याग को ही सन्यास समझते हैं परन्तु भगवान के मतानुसार गृह भूमि धन आदि बन्धन का हेतु नहीं हैं, प्रत्यतु गृह परिवार आदि के प्रति आसक्ति ममता पूर्वक सम्बन्ध, ही बन्धन का हेतु है।

इसी प्रकार व्यवहारिक अथवा दैनिक कर्म बाधक नहीं है प्रत्युत फल की आशा ही बन्धनकारी है। फलाशा तभी छूट सकती है जब ज्ञान में स्थिर बुद्धि द्वारा भोगासक्ति सुखासक्ति नहीं रहेगी। सुखासक्ति का त्याग तभी सम्भव है जब सेवा धर्म में अथवा परहित में प्रवृत्ति होगी, प्रीति होगी।

आसक्ति ममता को छोड़ने के लिये जो भी देह तथा परिवार अथवा भूमि भवन आदि वस्तु मिली है उसे अपनी न मानना– यह अभ्यास बहुत ही सरल है। लेकिन प्रातः सायं सोचा जाये अथवा किसी की मृत्यु में सोचा जाये कि 'अपना कुछ नहीं है', और दिन भर अपना अपना मनन चलता रहे तब आसक्ति नहीं मिटेगी। जब जब मेरी वस्तु, मेरे सम्बन्धी याद आये तभी मेरा कुछ भी नहीं है, यह संसार की वस्तु संसार में ही रहेगी–ऐसा स्मरण दृढ़ करने से आसक्ति ममता नष्ट हो सकती है।

तुम्हारे भीतर उसी का स्मरण आता रहता है जिससे तुम कुछ पाना चाहते हो। उसी की याद आती रहती है जिसे कुछ देना बाकी रह गया है।

किसी से कुछ पाने की चाह और देने योग्य को दे न करके उसे बचाने की चिन्ता तुम्हें अशान्त बनाये रहेंगी, इसीलिये जो कुछ पाना चाहते हो उसे छोड़ दो जिसे जो कुछ देना चाहिये उसे देकर सन्तुष्ट कर दो।

देने योग्य का दान कर देने, छोड़ने योग्य का त्याग कर देने पर तुम्हें तत्काल शान्ति का अनुभव होने लगेगा।

अवसर पर जो कुछ करना ही चाहिये और जो कुछ नहीं करना चाहिये उसका विस्मरण होना सहज दुर्भाग्य है। तुम अपना अध्ययन करो और देखो कि सम्बन्धित माता, पिता, पत्नी, पुत्रादि की बातों का स्मरण बना रहता है, समाचार पत्र में जो लाभ, हानि बाते पढ़ ली जाती है उनका स्मरण बना रहता है लेकिन आचार्य साधु, गुरुजन एवं भगवान की ओर से जो आदेश सन्देश, निर्देश, उपदेश सुनने में आते हैं, गीता, रामायण, शास्त्र, वेद में जो पढ़े जाते हैं वह स्मरण नहीं रहते। किसी की स्मृति में सब कुछ भर जाता है पर साधना में तत्पर रहे बिना परम शान्ति एवं परमानन्द की अनुभूति नहीं होती।

नित्य प्राप्त की विस्मृति के कारण ही यह अहंकार ही अपनी तृप्ति के लिये भगवान की मूर्ति बनाता है। अहंकार के टूट जाने पर भगवान को बनाने की जरूरत नहीं रह जाती। अहंकार का अभाव ही परमात्मा को प्रगट कर देता है। इसीलिये इस अहंकार को जान लो।

साधना की पूर्णता तभी समझना चाहिये जब प्रभु हृदय में ही प्रतिष्ठित दीखने लगें, स्वास स्वास के पीछे वही विद्यमान हों। स्वास आती जाती है,

उस आने जाने के आद अन्त मध्य में जो है वह नहीं आता जाता; वही परमात्मा है।

परमात्मा की विस्मृति रहने में ही अनेकों कष्ट अथवा दुःख भोगने पड़ते हैं। परमात्मा से विमुख होकर अहंकार, संसार से ऐश्वर्य, ज्ञान, आनन्द शान्ति शक्ति चाहता है इसीलिये मन चंचल है और चंचल ही रहेगा, क्योंकि परमात्मा की विस्मृति रहने तक मन को विश्राम मिल ही नहीं सकता। परमात्मा चैतन्य, निज बोध स्वरूप है उसमें स्वतः कोई रूप नहीं होता, इसीलिये उस बोध स्वरूप चेतन तत्व में यह मन रूप की कल्पना कर लेता है। चैतन्य स्वरूप परम ज्योति से ही साकार रूप का आविर्भ्र्व होता है। अनाहत नाद, शब्द, साधन हैं। बिन्दु ही ज्योति स्वरूप है।

चिद्रूपा शक्ति को ही कला कहते हैं।

जो नाद बिन्दु कलातीत है वहीं अरूप निरंजन परम तत्व है। ज्ञान में देखते हुए तुम सदा आत्मा में ही स्थित शान्त हुई बुद्धि द्वारा समता में रहो विषमता से बचो। कहीं भी प्रीति में कोई वस्तु न आने दों प्रीति केवल आत्मा में ही लगाये रहो।

विषयों का चिन्तन करते ही तुम पतन की सीढ़ी में उतरने लगोगे इसलिये नित्य प्राप्त परमात्मा का ही स्मरण चिन्तन मन से चित्त से होते हुए देखो।

परमात्मा तो नित्य ही प्राप्त है उसके नित्य योग का स्मरण करते ही वह सुलभ है तब उसे विस्मरण करके उसकी याद न करो जो दूर है क्योंकि वह स्मरण से सुलभ नहीं होगा कर्म करना होगा।

ज्ञान में देखते हुए सभी से असंग रहकर तुम अपने को मुक्त अनुभव कर सकते हो और परमात्मा से नित्य निरन्तर युक्त मिला हुआ देखकर तुम स्वयं को भक्त देख सकते हो। संसार से मिले ही नहीं हो तभी तुम मुक्त हो और परमात्मा से कहीं भिन्न नहीं हो इसलिये निरन्तर भक्त हो।

जगत का स्मरण ही बन्धन में डालता है परमात्मा का विस्मरण ही विभक्त बनाये रहता है।

ज्ञान में जाग्रत रहकर यदि तुम विनाशी पदार्थों में ममता न रहने दो उनकी कामना का त्याग कर दो और अहंकार रहित चाह रहित हो जाओ, तब तुम सदैव शान्ति में रह सकते हो।

अनासक्त रहकर ही तुम परमात्मा का अनुभव निरन्तर कर सकते हो इसमें कहीं परतन्त्रता नहीं है। कामनाओं ने ममता ने ही पराधीन बनाया है।

परम गुरु भगवान का आश्वासन है कि जो पुरुष मेरी (परमैश्वर्य माधुर्य सौन्दर्य से युक्त) विभूतियों को और योग शक्ति को तत्व रूप से (ध्यान योग द्वारा) जानता है वह साधक (संयोग वियोग के पीछे रहने वाले) नित्य निरन्तर योग में स्थिर होता है। (गीता 10/7)

प्रायः प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार की सुन्दरता में सम्मोहित होता है। मन वाणी के द्वारा व्यवहारिक माधुर्य में आकर्षित होकर प्रीति करता है। अपने से अधिक शक्ति सम्पन्न ऐश्वर्यशाली के समक्ष आतंकित होता है, झुकता है। परन्तु अनुपम सौन्दर्य निधान, माधुर्य निधान एवं ऐश्वर्य निधान परमात्मा परमेश्वर को न जान कर अज्ञानवश वह किसी व्यक्ति वस्तु को ही

सुन्दर तथा अति मधुर स्वभाव वाला एवं ऐश्वर्यशाली मान कर मोही तथा लोभी बनकर उसी की कामना करता है।

हम सभी साधकों को सावधान रह कर कहीं भी दीखने वाले सौन्दर्य, माधुर्य, एवं ऐश्वर्य को परमात्मा का ही जान कर, परमात्मा में ही प्रेम स्थिर करना चाहिये किसी भी विनाशी वस्तु व्यक्ति में नहीं अटक जाना चाहिये। लेकिन यह पढ़ने सुनने पर मन की मूढ़ता अथवा बौद्धिक प्रभाव के कारण स्मरण नहीं रहता अतः स्मरण रखने के लिये सजग रहना चाहिये।

आश्यर्च का विषय है कि अनेकों बार गीता में रामायण में यथार्थ भजन क्या है? पूजा क्या है? सत्कर्म तथा अमृतमय धर्म क्या है? क्या–क्या न करना चाहिये? क्या करना ही चाहिये इत्यादि निर्णय पढ़ते सुनते रहते हैं परन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते।

हमें समझाया गया है कि श्रवण अथवा अध्ययन के अनुसार आचरण में बाधक, पशु प्रकृति आसुरी एवं दानवी अथवा राक्षसी वृत्तियां हैं।

मानवी स्वभाव शुभ संकल्प करता है लेकिन आसुरी राक्षसी वृत्तियां बाधक बनती हैं।

इन आसुरी दानवी राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करने के लिये भगवान का निरन्तर स्मरण और उन्हीं की शरण आवश्यक है परन्तु आसुरी शक्ति स्मरण भी नहीं करने देती।

हम दूसरों को नाम स्मरण की महिमा सुनाते हैं लेकिन स्वयं नाम स्मरण को भूले रहते हैं जबकि क्षण क्षण सजग होकर स्मरण करते रहने को देखते रहना चाहिये।

तुम लगातार जिसका स्मरण करते हो उसी स्मरण के अनुसार भाव दृढ़ होता है और भावानुसार ही रूप गठित होता है। भाव का रूप भीतरी मन की ओर घेर लेता है।

जिस प्रकार अग्नि के संग से काष्ठ अथवा पत्थर का कोयला या लोहा अग्निमय हो जाता है उसी प्रकार प्रेम पूर्वक सतत स्मरण से पुरुष पुरुषोत्तममय तथा भक्त भगवानमय एवं जीवात्मा, परमात्मामय हो जाता है। लेकिन कामी का मन वस्तुमय व्यक्तिमय बना रहता है।

'अभ्यास योगयुक्तेन चेतसानान्य गामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन।।'

भगवान के निर्णय अनुसार साधक निरन्तर सजग रहकर अभ्यास योग द्वारा स्थित हुए चित्त को अन्य की ओर न जाने देकर परमात्मा के चिन्तन से उसी दिव्य पुरुष को पा जाता है। (गीता)

यह गुरु सम्मति है कि तुम विनाशी वस्तु एवं व्यक्ति के प्रभाव में न आकर अविनाशी परमात्मा के प्रभाव से प्रभावित रहो और मन को, चित्त को, बुद्धि को उसी में स्थिर देखने के लिये तत्पर रहो।

प्रेम का प्रयोग मनुष्य, पशु, वृक्ष, फूल, पत्ते, लकड़ी, पत्थर सभी के प्रति करो। प्रेम तो स्वभाव है कहीं लेने नहीं जाना है, मांगना भी नहीं है, वह तो निरन्तर है ही।

जो नित्य निरन्तर अभिन्न सत् परमतत्व है उसी को स्मरण रखने का स्मरण नहीं रहता, इसीलिये सदैव सजग रहकर प्रभु स्मरण को देखते रहना सहज साधना है। वर्तमान क्षणों में किसका स्मरण हो रहा है——यह देखना ही सजगता है।

जो कुछ अपने से भिन्न है उसका स्मरण संयोग एवं भोग के लिये आतुर बनाता है। जो अपने से अभिन्न है उसका स्मरण नित्य योग में स्थिर करता है।

विनाशी वस्तु व्यक्ति की स्मृति अविनाशी सत तत्व से विमुख बनाये रहती है, इसके विपरीत अविनाशी परमात्मा की स्मृति को तोड़ देती है।

विनाशी तथा अनित्य एवं क्षणभंगुर की स्मृति में घोर कर्म करते हुए श्रम ही श्रम है, इसके विपरीत अविनाशी, नित्य शाश्वत की स्मृति में विश्राम ही विश्राम है।

प्रत्येक विद्वान, श्रद्धालु, साधक से अथवा परमार्थी जिज्ञासु को यह गुरु सन्देश है कि सजग रहकर देखो? स्मरण किसका हो रहा है?

जिसकी याद तुम्हें अनायास आ रही है उसी से तुम्हारा सम्बन्ध है। यह भी जान लो कि वह विनाशी है या अविनाशी।

यह भी गुरु निर्णय हैः——जो भगवद भक्त है वह श्रद्धापूर्वक पूज्य भाव से प्रेम के साथ सब काम करता है। ज्ञानी बहुत सोच विचार कर परिणाम को देखते हुए काम करता है। योगी समत्व बुद्धि से सब कर्म करता है।

हर एक मनुष्य की उत्तम, मध्यम, अधम, मनोदशा का परिचय उसके आचार से, उच्चार से, प्रचार से, संचार और विचार से चल जाता है।

तुम जो कुछ भी करो उस कार्य की सिद्धि प्रसिद्धि पर दृष्टि न रख कर उसे शुद्ध ढंग से पूर्ण करो।

तुम अपने परमप्रभु के देहादि वस्तुओं के दान एवं उपकारों का स्मरण करते रहो–यही प्रभु स्मरण की सुविधि है। स्मरण मात्र से ही प्रभु सुलभ अनुभूत होते हैं। जो साधक नित्य प्राप्त परमात्मा को स्मरण रखता है, वही नित्य युक्त योगी है। जिस प्रकार इन्दियों के सुखद विषय स्पर्श में भोगी सुख मानता है उसी प्रकार पापरहित योगी निरन्तर आत्मा को परमात्मा से नित्य युक्त देखता हुआ ब्रह्म के संस्पर्श के आनन्द का अनुभव करता है (गीता)।

देह से अपने को भिन्न देखने का इतना अभ्यास दृढ़ कर लो कि तुम्हें यह न मालूम हो कि मुझे भूख लग रही है या सर्दी गर्मी लग रही है अपितु यही दिखाई दे कि शरीर को भूख लग रही है, सर्दी गर्मी लग रही है शरीर बीमार है, मन में काम है, क्रोध लोभ है इत्यादि समस्त वेदनायें देह में मन में दिखाई दें, स्वयं में नहीं। ऐसा अभ्यास करो इसमें आलस्य न करो।

एक सन्त कहते हैं कि परमात्मा शत प्रतिशत चेतन ही है पदार्थ जड़ है। अपने चेतन परमात्मा का निरन्तर स्मरण करो तुम्हारा क्या घटेगा? परमात्मा को भूल कर जड़ वस्तुओं का स्मरण करोगे तो तुम्हारे साथ क्या बचेगा? बाहर से सभी नाम रूप भिन्न–भिन्न दीखतें हैं परन्तु भीतर चेतन रूप में सब में एक ही है।

अपने भीतर उतरने का अभ्यास बढ़ाओ फिर सबके भीतर उतर कर आत्मा को पहिचान लोगे।

जिसका अनुभव कर सकते हो उसकी कल्पना न करो। परमेश्वर उसी को जानो जो निरन्तर है। वह चेतना का महासागर है। जो अस्तित्व है उसी को परमात्मा समझो। और जो नहीं है उसी को हम समझो। मन्दिर भले ही लाखों होंगे परन्तुं राम–कृष्ण भगवान तो एक ही सभी मन्दिरों में है।

सन्त ने हमें समझाया है कि तुम जानना चाहते हो कि ईश्वर के नाम स्मरण के लिये क्यों प्रेरित किया जाता है?

तुम स्वयं ही अपना अध्ययन करो और अभी देखो कि तुम्हारे मन पर उसी का प्रभाव पड़ रहा है, उसी से सम्बन्ध है जिसको कभी तुमने सुना है। जिसे सुना है उसी का स्मरण दृढ़ हो गया है और जिसका निरन्तर स्मरण रहता है उसी का तुम पर प्रभाव पड़ता है।

प्रायः तुम्हारी स्मृति में अनेकों रूप भर गए हैं और उनके नामों का स्मरण चलता ही रहता है।

प्रायः जितने भी नाम रूप तुम्हारी स्मृति में भरे हैं उनसे कभी न कभी सम्बन्ध विच्छेद होगा ही उस समय जितनी अधिक प्रीति होगी उतना ही वियोग का दुख होगा ही।

वियोग के दुख से बचने का सुगम उपाय यही है कि उसको अपनी स्मृति में भर लो जिसका कभी विनाश ही न हो, जो अविनाशी हो। उस

अविनाशी को निरन्तर स्मरण रखने के लिये उसका कोई नाम स्वीकार कर लो।

विनाशी वस्तु के नाम स्मरण से जिस प्रकार से अनायास ही सम्बन्ध जुड़ जाता है उसी प्रकार अविनाशी परमात्मा के नाम स्मरण से सम्बन्ध दृढ़ होता है।

सन्त ने यह भी समझाया कि जब तक अहंभाव का अन्त नहीं होता तब तक अविद्या की अदृश्य प्रेरणा से तुम न करने योग्य कर्मों को करोगे और करने योग्य का पता भी नहीं चलता वह होता रहता है। जहां तक अहंकार है वहां तक अविद्या है। अविद्या ही हम सबका अज्ञान है। अज्ञान में ही सदात्मा की विस्मृति रहती है इसीलिये जितनी शीघ्रता से कर सकते हो तुम आत्म ज्ञान प्राप्त करो। आत्मा को जानते ही आत्मा होकर रहना सरल हो जाता है।

अहंकार में ही संकल्पों का विस्तार रहता है संकल्प न रहे तो अहंकार भी नहीं होगा।

नमस्कार से अहंकार शमन होता हे इसीलिये विद्वान लोग नमस्कार का बहुत महत्व देते हैं।

यह जगत आत्मा परमात्मा का विराट रूप है सब में एक आत्मा को परमात्मा को जानते हुए भक्त जन विश्व रूप प्रभु को नमस्कार करते रहते हैं, तुम्हारी समझ में जब आयेगा तब तुम भी नमस्कार करोगे। बहुत शुभ है कि तुम अभी से परमात्मा को सब में स्मरण करो नमस्कार करो।

हममें से अनेकों श्रोता वक्ता साधक नाम की महिमा पढ़ सुनकर नाम स्मरण करते हैं परन्तु वह स्मरण न होकर कुछ देर माला के द्वारा या वाणी द्वारा जप बन जाता है। जप में रसना की अपेक्षा होती है लेकिन सुमिरन तो मन से ही चलता है। जप में क्रिया की प्रधानता है सुमिरन में भाव प्रीति की प्रधानता है।

नाम से प्रीति होने पर ही सुमिरन सहज हो जाता है। भगवद नाम से प्रीति दृढ़ करने के लिये नामी के रूप को, स्वरूप को, स्वभाव को अथवा भगवान के ऐश्वर्य माधुर्य सौन्दर्य को जान लो। जानने के लिये बुद्धि योग प्राप्त करो।

भगवान को सुनकर मन से मानो, पुनः सन्त संगति में बुद्धि से जानो और ध्यान योग द्वारा प्रेम में दर्शन करो। जो कुछ पढ़ते हो, सुनते हो यदि यही स्मरण न रहे तब बार–बार पढ़ो या सुनो, मन लगाओ, साथ ही बुद्धि स्थिर करो। भारत के सभी प्रेमी सन्तों ने आरम्भ में सुमिरन की ही प्रेरणा दी है।

समिरन सुरति लगाई कै मुख से कछू न बोल।
बाहर के पट बन्द कर अन्तर के पट खोल।।
सुमिरन की सुधि यों करो ज्यों सुरभी सुत माहिं।
कहैं कबीर चारो चरत विसरत कबहूँ नाहिं।।
सुमिरन को सुध यूं करो जैसे दाम कंगाल।
कह कबीर बिसरे नहीं पल–पल लेत सम्भाल।।
सुमिरन की सुध यों करो जैसे कीड़ा भृंग।
कबीर बिसारे आपको होई जाय तिहिं रंग।।

जिस प्रकार तुम्हारी देह में महान पंचभूतों का अर्थात् पृथ्वीतत्व, जलतत्व, अग्नितत्व, वायुतत्व, आकाशतत्व का अंश है। इन तत्वों की सम्यावस्था और विषमावस्था का प्रभाव देह पर पड़ता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के अन्तःकरण पर अर्थात् मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार पर ग्रहों का प्रभाव पड़ता है।

सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि ग्रहों की अनुकूलता प्रतिकूलता एवं ग्रहों की परस्पर मित्रता शत्रुता के अनुसार मनुष्य मूर्ख या विद्वान निर्धन या धनी रोगी या निरोगी, सुन्दर या असुन्दर, कवि, लेखक, वक्ता, मनीषी, महाभोगी या महायोगी, दानी या दरिद्र भिखारी यह समस्त सुयोग कुयोग ग्रहों के योगानुसार जीवन में आते रहते हैं।

जो ग्रहों की गति गणित को जानते हैं उन्हें जब जैसा अनुकूल प्रतिकूल समयानुसार भोग होता है वह सब पहले से ही समझ लेते हैं। ग्रहों की गणित को जानते हुए अनुकूल ग्रहों के भोगकाल में सेवा पुण्य कर्म करते रहो। प्रतिकूल ग्रहों के भोगकाल में कामनाओं के त्याग तथा तप में तत्पर रहो और सदैव ही ग्रहों के पीछे रहने वाले अनन्त परमात्मा का आश्रय लेकर शान्त रहने के लिये सजग रहो।

तुम सम कौन उदार परम प्रभु।
तुम्हें भूल कर हम इस जग में, बनते अपराधी पग–पग में।
तुम करते उद्धार परम प्रभु।।
जो कुछ पाते व्यर्थ गंवाते, फिर भी तुम देते ही जाते।
ऐसा अनुपम प्यार परम प्रभु।।
कितने अधः पतित होकर हम, जब आते सन्मुख रोकर हम।

तुम करते स्वीकार परम प्रभु।।
तुमने ही मुझको अपनाया, तुमको ही इक अपना पाया।
तुम ही परमाधार परम प्रभु।।
तुम बिन कुछ भी लगे न प्यारा, तुमसे मांगू प्रेम तुम्हारा।
सुन लो पथिक पुकार परम प्रभु।।

———

अपूर्णता में मूढ़ता

सभी सन्त गुरुजन जो समझा रहे हैं। यह चर्चा भुलाना महा मूढ़ता है।।
बडें भाग्य से ऐसा अवसर मिला है। निरर्थक बिताना महा मूढ़ता है

समझ लो यह परिवार कब तक रहेगा।
किसी का सुखद प्यार कब तक रहेगा।
जो माना है अधिकार कब तक रहेगा।
नहीं समझ पाना महा मूढ़ता है।।

बहुत शीघ्र ही अपना उद्धार कर लो।
जो कुछ कर सको पर उपकार कर लो।
यह अज्ञान की सीमा पार कर लो।
देरी लगाना महा मूढ़ता है।।

जहां रह रहे हो निकलना पड़ेगा।
नहीं चाहने पर भी चलना पड़ेगा।
जिसे खोके फिर हाथ मलना पड़ेगा।
वहां मन फंसाना महा मूढ़ता है।।

सदा शान्ति रहती है समता के पीछे।
समता न आती विषमता के पीछे।
विषमता रहा करती ममता के पीछे।
ममता बढ़ाना महा मूढ़ता है।।

कहीं मुग्ध होकर के तन में न अटको।
कहीं लोभी बन करके धन में न अटको।
अचल में रहो चपल मन में न अटको।
''पथिक'' अटक जाना महा मूढ़ता है।।

———

यह भी गुरु निर्णय है कि जब तक तुम मन के संकल्पों एवं इच्छाओं की पूर्ति करते रहोगे, कोई साधना, आराधना, सेवा, पूजा, दान, तप, व्रत आदि से स्वेच्छा पूर्ति करते रहोगे तब तक सेवा पूर्ण न होगी, तथा जड़ता का अन्त नहीं होगा, सीमित अहंकार तृप्त होता रहेगा, परन्तु अहंकार से, अज्ञान से, मुक्ति नहीं मिलेगी।

अज्ञान में अहंकार वश सहस्त्रों सेवक शिष्य सेवा एवं पूजा प्रार्थना की ओट में अपने मन के ही सेवक शिष्य बने रहते हैं। जब कोई साधक मन की बात पूरी करता है तब विद्वान होते हुए भी मूढ़ है क्योंकि वह मन की पूर्ति में ही अटक रहा है। जो साधक मन को शिष्य बना लेता है वही सद्गुरु के प्रति सात्विक श्रद्धा रखते हुए उनके कल्याणकारी आदेशों निर्देशों उपदेशों द्वारा तत्व ज्ञान उपलब्ध कर पाता है।

एक संग सहित आत्म ज्ञान होता है, दूसरा संग रहित आत्मा–ज्ञान होता है। सर्वसंग त्याग के अन्त में जो ज्ञान शेष रह जाता है वही आत्म ज्ञान है।

यह गुरु निर्णय है कि असंग होने पर जब पूर्ण शान्ति एवं शून्यता होती है तभी आत्म ज्ञान होता है। एक सन्त ने बताया कि तुम उसे छोड़ दो जिसे जानते हो तब उसी का अनुभव करोगे जिसे नहीं जानते हो।

तुम शरीर एवं मन बुद्धि के पीछे उसे देखो जो न आता है न जाता है, वहीं स्वयं का अस्तित्व है, उसी में ठहरो, वहीं समत्व योग है।

अभ्यास की पूर्णता

जहां संयोग के भोग का अभ्यास है वहीं नित्य प्राप्त परमात्मा के योग का अभ्यास दृढ़ करो। संग के त्यागी बनो।

अनेको श्रद्धालु यह सोच कर दुखी होते रहते हैं कि हम अकेले रह गये, हमारे जीवन के साथी चले गए, कोई साधक इस आशंका से भयातुर हो जाते हैं कि हम अमुक बिना अकेले कैसे रहेंगे! जीवन के दिन कैसे कटेंगे! जो लोग अकेले रहने से दुखी अशान्त अथवा भयातुर होते हैं उन्होंने गुरु ज्ञान में अपनी दृष्टि का उपयोग ही नहीं किया।

तुम सावधान होकर गुरु विवेक का आश्रय लेकर अकेले होने का भय छोड़ दो। विचार करो जब सारे सम्बन्धी तुम्हें छोड़ देंगे तब क्या परमात्मा भी तुम्हें छोड़ सकता है? कदाचित सब कुछ तुमसे छीन लिया जाये तब क्या

परमात्मा परम चेतन भी तुमसे छीना जा सकता है? परमात्मा परम चेतन तुम्हें कहीं छोड़ नहीं सकता वह कभी किसी के द्वारा छीना भी नहीं जा सकता वह तो नित्य का साथी, नित्य परमाश्रय निरन्तर ही है।

तुम नित्य अनुभव करो कि जगत में तुम अकेले ही हो। जन्म के समय अकेले ही आये थे और मृत्यु को देखते हुए अकेले ही जाओगे। बीच में जो सम्बन्धों की भीड़ है वह बाहर ही बाहर है। गहरी नींद में तुम अकेले ही होते हो।

हमें सावधान किया गया कि जब बाहर भीड़ हो तब भीतर निरीक्षण करो कि कौन खटक रहा हे? किसी याद आ रही है? यदि भीतर कोई न मिले तब समझ लेना कि यह एकान्त है, और जब एकान्त में शरीर बैठा है और सम्बन्धों का स्मरण आ रहा हो भविष्य के चित्र बन रहे हों चिन्तन स्मरण चल रहा हो तब समझना कि एकान्त में भी भीड़ पीछा किये हुए है। बाहर की भीड़ से भाग जाना सरल है परन्तु भीतर की भीड़ से असंग रहना कठिन हे।

ध्यान तथा ज्ञान विज्ञान में तृप्त रहकर जो समस्त द्वन्दों को पार कर जाता है कोई कुतूहल नहीं रहता है, जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, चित्त सन्तुलित रहता है, बुद्धि ठहर जाती है, अन्तःकरण में कम्पन समाप्त हो जाते हैं, तब परमात्मा का नित्य योगानुभव शेष रहता है।

योग की प्रार्थना तभी पूरी होती है जब किसी प्रकार के भोग की संयोग की कामना नहीं रहती।

यह सन्त सम्मति है कि जो कभी दूसरों से मांगते आये हो, भोगते आ रहे हो, उसे देने में ही तत्पर रहो। जब तक मांगते रहोगे भोगते रहोगे तब तक देने में समर्थ न हो सकोगे। किसी से प्रेम प्यार भी न मांगो तब तुम प्रेम प्यार दे सकोगे। जो भिखारी है वह दाता नहीं हो सकता।

मांगने का अभ्यास छोड़ो, देने के अभ्यासी बनो।

मांगना तो कुत्ता भी जानता है कुछ पाने के लिये पूंछ हिलाता है बहुत ही स्नेह दिखाता है इसीलिये जो लोग घर में परस्पर प्रेम नहीं पाते वह स्नेह की झूठी तृप्ति के लिये कुत्ते पालकर उन्हें गोदी में बिठाते हैं।

साधना पथ में तुम किसी के स्नेह की इच्छा को छोड़ सको तब यात्रा के लिये शक्ति संचित कर सकोगे।

हम सभी साधकों को ध्यान से आत्मनिरीक्षरण करते हुए देखना है कि अज्ञान में बनाये हुए हैं और कितनी मात्रा में अभी भीतर भरे हुए हैं।

जब जब अशान्ति बढ़े, भय सताये, दुःख आये तब तब दोषों को देखो।

ध्यान से देखने पर ही हम सबको अपने महान अज्ञान अन्धकार का ज्ञान होगा। अज्ञान का ज्ञान होना ध्यान की सफलता है।

सुखासक्ति के कारण राग का अभ्यास हो गया है अब वैराग्य का अभ्यास नहीं करना है अपितु राग के अभ्यास को ही बदलना है।

जहां जहां, जब, मेरा कहने का मानने का अभ्यास है वहीं वहीं, 'मेरा नहीं है, यह देह मैं नहीं हूँ––यह अभ्यास दृढ़ करना है। यही साधना पूर्ण करना है। लेकिन अभ्यास का स्मरण ही नहीं रहता।

भगवान का निर्देश है कि तुम ध्यान से उस सुखद संयोग में ही आगे आने, वाले दुखद, वियोग को देखो; और उस नित्य प्राप्त परमात्मा के योग को भी जान लो, जो संयोग के प्रथम और वियोग के अन्त में निरन्तर रहता है। प्रायः हमें सुखद संयोग एवं दुखद वियोग को भोगते रहने का अभ्यास हो गया है। अनुकूल में सुख तथा प्रतिकूल में दुख मानने का अभ्यास हो गया है। इसी प्रकार जो कुछ भी तन, धन, परिवार, भूमि, भवन आदि प्रारब्धानुसार मिला है उसे अपना मानने का अभ्यास हो रहा है। शरीर से, मन से, इन्द्रियों बुद्धि अहंकार से जो कुछ बार बार दुहराया गया है उसका इतना सहज अभ्यास पड़ गया है कि अब उसे असत्य एवं दोषपूर्ण जानने पर भी वह अभ्यास नहीं छूटता है। ऐसी स्थिति में भगवान ने बहुत ही सहज उपाय बताया है कि धीरे धीरे क्रम क्रम से सब कुछ प्रभु का ही है ऐसा मन ही मन दुहराते रहो। देहाभ्यास के विपरीत आत्माभ्यास को दुहराते रहों अभ्यास को विपरीत अभ्यास से बदलने के लिये बार बार सावधान रहना है तभी स्मरण रहेगा।

ध्यान से गम्भीर होकर देखने से यह ज्ञान में दीख जाता है कि मोह लोभ अभिमान कामादि दोषों को दुहराते रहने से संस्कार दृढ़ हो गए हैं, अभ्यास पड़ गया है।

यह भी समझने की बात है कि जिसे हम बनाते है, पुष्ट करते हैं, उससे बाहर की बनावट पुनः टूट फूट जायेगी परन्तु भीतर जो हमने दुहराया है वह हमको ही मिटाना बदलना होगा।

हमारा बनाया मोह लोभ अभिमान दूसरा कोई न मिटायेगा अतः हमें ही अपनी अज्ञान में बनाई हुई आदतों को, स्वीकृतियों को, मान्यताओं को, विपरीत अभ्यास से मिटाना है।

कामी के रोम रोम में काम के ही कम्पनों का अभ्यास है इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि राम के प्रेमी में रोम रोम से राम की ध्वनि होती रहती है।

अभ्यास को अभ्यास से मिटाने के लिये अहंकार से सावधान रहना, बीच में यह न अकड़ने लगे कि मैंने यह सफलता प्राप्त की है, वास्तव में परमात्मा की शक्ति से उन्हीं की सद्प्रेरणा तथा मिली हुई सुबुद्धि से अहंकार के बनाये हुए अभ्यास को बदलना है।

यह सद्गुरु सन्देश स्मरणीय हैः——जब जब अहं भाव स्फुरित हो अर्थात् जब जहां 'मैं हूं' 'यह मेरा है', यह भाव उदय हो वहीं पर 'यह मैं नहीं हूं, 'यह मेरा नहीं है', तत्काल ही दुहराते रहो।

जो साधक स्वाभाविक अज्ञान से उत्पन्न अहंभाव के ऊपर विजय प्राप्त करने की वीरता नहीं दिखाता उस पशु को उत्तम पद प्राप्त करने की प्रेरणा व्यर्थ ही है।

हमें समझाया गया है कि सैकड़ों उपायों को छोड़कर तुम केवल यही भावना दृढ़ कर लो कि यह देहादि मैं नहीं हूं, इस अभ्यास के दृढ़ होने पर सब भ्रान्तियां मिट जायेंगी।

देहादिक वस्तुओं तथा माता पिता पति पत्नी पुत्र मित्र के साथ मिलकर मैं और मेरे, मान लेने से अनेकों कष्ट सहे जाते हैं, अनेकों बार रोना पड़ता है, अत्यधिक दुखी होना पड़ता है इसके विपरीत यह मैं नहीं हूं, यह कुछ भी मेरा नहीं है, इस भावना का दुःख यदि सह लिया जाये तब तो समस्त कष्टों का, दुखों का ही अन्त हो सकता है। परन्तु संयोग सम्बन्ध के लिये अगणित दुख सहते रहने के लिये मूढ़ मति वाले बहुत साहसी हैं लेकिन परमात्मा के योग के लिये कोई बिरले विवेकी साहस करते हैं।

तत्वदर्शी के लिये न कोई ऊँचा है न नीचा है। स्तुति निन्दा आदि अहंकार की भेद दृष्टि के कारण है।

जल पृथ्वी वायु आकाश अग्नि के लिये कहीं कोई अधम मध्यम उत्तम भला बुरा है ही नहीं। सारे भेद भाव मनुष्य के विचार से उत्पन्न होते हैं सत्य परमात्मा में कोई भेद नहीं है।

समस्त प्राणियों में स्थित जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है। जीवात्मा की उपासना सोलह देवता करते हैं। भगवान का निर्णय है :–

मामेक मेव शरण मात्मानं सर्व देहि नाम्।
याहि सर्वात्म भावेन मया स्या ह्यकुतो भयः।।

सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों के आत्म स्वरूप, मुझ एक की शरण सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करो मेरी शरण में तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे।

मनुष्य का मन ही सर्व विषयगत होता है मन ही सर्व सम्बन्ध मय बन जाता है, मन में जो नाम रूप भर जाते हैं वहीं मन की सृष्टि होती है।

भगवान कृष्ण का निर्णय हैः—जिस काल में दृष्टा गुणों के सिवाय अन्य को कर्ता नहीं देखता, और गुणों से परे परम तत्व को जानता है उस काल में वह सत्यस्वरूप को प्राप्त होता है। (गीता 14/19)

जो साक्षी के समान स्थित है, जो गुणों से विचलित नहीं किया जा सकता, और गुण ही गुणों में बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्द परमात्मा में एकत्व भाव से स्थित रहता है, उस स्थिति से विचलित नहीं होता। (गीता 14/23)

सम दुःख सुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्म कांचनः (गीता 14/24)

भगवान के निर्णय अनुसार वही पुरुष स्वस्थ है जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वों में आत्म भाव से समस्थित है।

देहस्थ, धनस्थ, प्रकृतिस्थ आदि मनुष्य, स्वस्थ अथवा आत्मस्थ नहीं हुआ करते। विकारी क्षेत्र का अभिमानी व्यक्ति, भोगी विकारी बन जाता है।

पंचमहाभूत पृथ्वी जल अग्नि वायु आदि तथा अहंकार बुद्धि त्रिगुण मयी प्रकृति, दस इन्द्रियों, पांच विषय, इच्छा द्वेष सुख स्थूल पिण्ड, चेतना, धारणा शक्ति यह सब विकारी क्षेत्र हैं।

सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा परमेश्वर की ही आत्मा है यह आत्मा ही महान देव है। संसार से अनासक्त रह कर परमात्मा में अनुरक्त रहना ही महान देव की पूजा है।

ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः
महाबोधमयैकात्मा स्तात्मैव परमेश्वरः

अर्थ––ईश्वर न तो दूर है ओर न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोध रूप एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है। ईश्वर उसे ही समझो जो सबका नियंत्रण करने में स्वतंत्र हो, इस प्रकार से स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकार से अपना आत्मा ही है वही सर्वगत है, वही सनतन है, उस आत्मा रूप परमात्मा को नमस्कार करो। (यो0 वा0)

''सत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि।'' (छान्दोग्य उपनिषद)

अर्थ––वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है। केनोपनिषद में हम साधकों को सावधान किया गया है कि जिसे तुम देखते हो जिसे सुनते हो, जिसे तुम सोचते हो, जिसे तुम स्वास में भरते हो उसे सत्य परमात्मा ब्रह्म मान कर अपने से भिन्न वस्तु में न ठहर जाना।

जिसकी सत्ता से वाणी बोलती है, जिसके द्वारा मन सोचता है, जिसके द्वारा आंख देखती है, जिसकी शक्ति से कान सुनते हैं, जिसके होने से प्राण सांस लेते हैं, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। जो इन्द्रियों को मन बुद्धि को प्रकाशित करता है उसे तुम ब्रह्म जानो।

साधना के समय तुम अपने को अकेले ही देखो किसी अन्य की स्मृति को स्वीकार ही न करो।

जब तुम दूसरों को अपने को अकेले ही देखो किसी अन्य की स्मृति को स्वीकार ही न करो।

जब तुम दूसरों को अपना मानते रहोगे, दूसरों से बोलते रहोगे, दूसरों की सुनते रहोगे, दूसरों को बांधे रहोगे या दूसरों से बंधे रहोगे तब तक तुम अपने आप को नहीं देख सकोगे। अकेले रहकर तुम देखो कि क्या हो? और कहां हो?

यह गुरु निर्देश है कि तुम नित्य प्राप्त परम प्रेमास्पद नित्य चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के नित्य योग की अनुभूति तभी कर सकोगे जब कोई दूसरा न रह जायेगा, केवल तुम्हीं तुम एकाकी रह जाओगे, जब तुम्हारे चारों ओर शून्य ही शून्य होगा।

पूर्ण शान्त होने पर शून्य होने पर पूर्ण मौन होने पर परम ज्ञान रूपी आलोक में वह प्रज्ञा चक्षु खुलते हैं जिसके द्वारा अखण्ड अनन्त सत परमात्मा का बोध होता है। व्रत तप जप आदि से बुद्धि शुद्ध होने पर भी सन्त की संगति में बुद्धि की शक्ति बढ़ जाती है। हीरा को शान पर चढ़ाने से चमक ही आती है उसी तरह सन्त संग से बुद्धि में जानने की क्षमता बढ़ जाती है।

तुम शान्त होकर नेत्र बन्द करके ध्यान में अपने चेतन स्वरूप को देखो। कोई विचार न करो किसी का स्मरण न करो। जब तुम्हारे साथ कोई दुख नहीं, चिन्ता नहीं, यही तुम्हारा सुख स्वरूप है। तुम इसी सुख को किसी विषय से मिला देते हो, किसी नाम रूप से मिला देते हो, तब वही विषय तथा नाम रूप आदि वस्तु सुखदाता दीखने लगती है। उस समय तुम स्वयं

सुख स्वरूप को भूलकर अन्य को सुखद मान लेते हो और उसी की कामना करते रहते हो।

जब तुम मिठाई खाते हो तब पेड़ा बर्फी रसगुल्ला जलेबी हलुवा मालपुवा आदि अनेकों नाम रूप वाली मिठाई की आकृतियां मन में भर जाती हैं, उस समय प्रत्येक नाम रूप के साथ रहने वाली शकर याद नहीं आती लेकिन मीठी वस्तु का नाम याद आता है आकृति याद आती है, इसी प्रकार जब तुम्हें अनेकों सुखदायी सम्बन्धी स्मरण आते हैं तथा सुखद शब्द स्पर्श रसादि विषयों का स्मरण आता है तब तुम स्वयं अपने सुख स्वरूप को भूले रहते हो। रामायण में कहा है:——

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी।।

अकेले होने पर अन्य किसी से सम्बन्ध की स्मृति न रहने पर अथवा दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद होने पर अपने ही द्वारा अपना परिचय प्राप्त होता है।

दिन में, रात में, समय मिलते ही अनेकों बार अपने को शरीर के भीतर चेतन रूप में ज्ञान रूप में अकेले होने को देखो। बार बार देखो—ऐसा करने से अभ्यास हो जायेगा फिर अकेले होने का भय नहीं रहेगा।

तुम उत्पन्न होने वाली देहादिक वस्तुओं के पीछे उस अनादि को जानो जो कभी उत्पन्न नहीं होता और जिसका विनाश नहीं होता, उसी से सबकी उत्पत्ति होती है और उसी में सबका अन्त होता है वह अनादि अनन्त ही तुम्हारा परमाश्रय परमात्मा है।

अनादि अनन्त परम चेतन परमात्मा से अपने आपको नित्य युक्त अनुभव करते रहना ही योगानुभूति है।

अन्य से सम्बन्ध रहने तक पराधीनता नहीं मिटती। एकता का बोध न होने तक संघर्ष नहीं मिटता। अकेले हुए बिना साधक स्वस्थ आत्मस्थ नहीं हो पाता।

तुम अकेले होकर बाहर इन्द्रिय द्वारों से जगत की ओर यात्रा न करके अन्तर यात्रा करो। तुम जितना चेतना में डूबते जाओगे उतना ही स्थूल जगत से सम्बन्ध विलीन होता जायेगा और सूक्ष्माति सूक्ष्म सत्य की अनुभूति होगी।

प्रायः हम सभी साधक परमात्मा के दर्शन के लिये उत्सुक दिखाई देते हैं आँख बन्द करके ध्यान में भगवान को अथवा किसी प्रकार के प्रकाश को देखना चाहते हैं। जब कोई साधक कह देता है कि एक प्रकाश दीखता है ज्योति दीखती है तब दूसरा साधक आतुर अधीर सा होने लगता है कि हमें भी कुछ दीखे।

हमें समझाया गया है कि परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे आंख बन्द करके या खोज करके देखा जा सकता है। परमात्मा परमानन्द है, परमात्मा ज्ञान है, परमात्मा अगाध असीम प्रेम है, परमात्मा अनन्त शक्ति है, परमात्मा ही समस्त विश्वमय है। इस परमात्मा की अनुभूति होती है। यथार्थ में अनुभूति ही परमात्मा है–ऐसा सन्त कहते हैं।

भक्तों को जो भावानुसार दर्शन होते हैं वह प्रेम तत्व के दर्शन हैं इसीलिये प्रेम तत्व तो एक ही है परन्तु भक्तों के दर्शनीय भगवान एक नहीं है। प्रेम एक है परन्तु रूप अनेक हैं।

अनन्त अपरिसीम परमात्मा में रूप प्रगट होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे कि विराट व्यापक अग्नि तत्व से दीपक लौ प्रगट होती है और बुझ जाती है वह मिटती नहीं लय होती है।

परम गुरु वशिष्ठ ने राम को बताया है कि सब संकल्पों के शान्त हो जाने पर, सघन वासनाओं से रहित तथा भावातीत एवं भावना मय रूप से अतीत जो विशुद्ध चिन्मात्र तत्व है वही परब्रह्म परमात्मा है।

जगत में कुछ भी दीखता है परमात्मा का निरंकुश चिद् विलास कहा है।

यह बताया गया है कि परमात्मा की अनुभूति के लिये अतीत, अर्थात् जो बीत चुका है एवं अनागत जो आया नहीं उस भविष्य के मानसिक चित्र बनाकर मनन चिन्तन न करो। एक मात्र नित्य वर्तमान स्वभाव साक्षी चैतन्य स्वरूप में प्रज्ञा दृष्टि को स्थिर करो।

प्राणापान के सन्धि स्थान में नित्य निरन्तर प्रकाशित आत्मा तत्व को निरन्तर ध्यान से देखते हुए आत्मा में ही सन्तुष्ट रहो तृप्त रहो।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं–सर्वं तस्य यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः।।

अर्थ––जिसमें यह समस्त प्रपंच विद्यमान है, जिसमें यह सब उत्पन्न हुआ है, जो सर्व स्वरूप है, जो चारों ओर से व्याप्त है, जो सर्व मय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार बार नमस्कार है।

गीत

तुमने मुझको कभी न छोड़ा, मैंने ही तुमसे मुख मोड़ा।।
भोग सुखों में मुग्ध हुआ मन तुम्हें भूल कर हे जीवन धन।
परम तृप्ति की आशा लेकर नश्वर जग से नाता जोड़ा।।
मिले हुए शुभ अवसर खोकर मैं अक्षम्य अपराधी होकर।
देखूं एक तुम्हीं को ऐसा कभी कृपा का तार न तोड़ा।।
क्या मुख लेकर मैं कुछ मांगू, दोष बहुत हैं किस विधि त्यागूं।
तुम तक आने में मेरे ही, पाप बन रहे मग के रोड़ा।।
जहां कहीं आता जाता हूँ अपने को तुममें पाता हूँ।
इतना अतुलित प्यार पथिक पर, जितना भी समझें वह थोड़ा।।

कृपा की महिमा

कृपा प्रभु की है अहंकार देख लेते हम।
इसके दिखते ही मुक्ति द्वार देख लेते हम।।
देखने वाले हैं हम कौन, मौन होने पर।
स्वरूप नित्य निर्विकार देख लेते हम।।
मन के माने हुए सुख दुःख हैं सभी बन्धन हैं।
मोह के मिटते ही उद्धार देख लेते हम।।
किसी भी वस्तु से ममता तभी मिटती है जब।
अपना कुछ भी नहीं अधिकार देख लेते हम।।
प्रकृति के पार प्रभु को तभी समझ पाते जब।
अपना माना हुआ संसार देख लेते हम।

ज्ञान की दृष्टि से कण–कण में और क्षण–क्षण में।
जड़ में चेतन का चमत्कार देख लेते हम।।
पथिक सन्देश है विश्राम तभी मिलता जब।
परम प्रियतम को मन के पार देख लेते हम।।

अहंकार की अपूर्णता

यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाऽऽधारो न च कारणम्।
सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः।।

(यो0 वा0 4/39–19)

भावार्थ––ज्ञान से देखने पर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं है और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम' रूप यक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता।

ध्यान से देखने पर ज्ञान तभी होता है जब इन्द्रियों के द्वारा विषय सुखों के लिये बाहर की ओर यात्रा बन्द हो जाती है। इन्द्रियों द्वारा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के पीछे मन नहीं जाने देना चाहिये, इसके विपरीत जिस चेतना से विषयों का ग्रहण होता है उस चेतना में मन को लगाना चाहिये और बुद्धि को इसी चेतन स्वरूप में स्थिर करना चाहिये।

महर्षि वशिष्ठ जी ने भगवान राम को समझाया है कि विषयों से जो वैराग्य है वही अंकुरित होने पर ध्यान कहा जाता है। यदि पुरुष में भोगों के प्रति विराग दृढ़ हो चुका है तब ध्यान में मन बुद्धि को स्थिर करने का श्रम व्यर्थ ही है और यदि विराग नहीं है तब भी ध्यान में बुद्धि स्थिर करने का प्रयास कष्टकर ही है।

जब तक तुम विद्वान होते हुए भी स्वादिष्ट भोजनों के लोभी तथा धन में आसक्त हो, जब तक शब्द रूप, स्पर्शादि विषयों में आसक्ति को नहीं जीत पाते हो तब तक शक्ति तुम्हारे साथ जो शक्ति सम्पत्ति तथा पदाधिकार है उस पर पशु का, राक्षस का, दानव का अधिकार है; अहंकार को इसका ज्ञान

नहीं है वह तो सब कुछ का मालिक बनकर लोभ, मोह, काम के वशीभूत हो रहा है। शक्ति, सम्पत्ति, मन, बुद्धि पर जब देवताओं का अधिकार होता है तभी दया, दान उपकार सेवा संयम साधना एवं सत्संग में प्रीति होती है।

इस जगत में वस्तु व्यक्ति जो कुछ भी अपनी प्रतीति होती है उससे सम्बन्ध टूटने पर जिज्ञासु को बोध, साधक को योग भक्त को भगवान और प्रेमी को प्रेम सुलभ हो जाता है।

तुम यह भी समझ लो कि जिस प्रकार हाथ में हथियार धारण करने वाले सभी वीर नहीं होते उसी प्रकार जिह्वा पर वेदों शास्त्रों को रखने वाले सभी धर्मवान, धीर नहीं हुआ करते, इसीलिये अपनी विद्वता मात्र से किसी को सम्मोहित न करो, और स्वयं सम्मोहित होकर किसी के पीछे न भागते रहो। तुम आत्मा में ही श्रद्धा करो आत्मा में ही प्रेम को पूर्ण करो। आत्मा आनन्द स्वरूप है।

बुद्धि ठीक होने पर अनेकों सज्जन यही प्रश्न करते हैं कि संसार चक्र से कैसे निकला जाये। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का निर्णय हैः–

अन्येन रचितो देहो यक्षेणान्येन संश्चितः।
दुःखमन्यस्य भोक्ताऽन्यश्चित्तयं मौरूर्यचक्तिका।।

'इस देह की रचना एक नियम से हुयी है, उसका आश्रय अहंकार रूपी यक्ष ने ले रक्खा है, दुःख कोई और को ही होता है, अन्त में भोक्ता कोई अन्य ही बनता है इस प्रकार यह अज्ञान की चक्रिका चल रही है।'

'अज्ञान मात्र संसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति।'

जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न होती है उसका विनाश ज्ञान से ही हो जाता है।

दृष्टा और हृदय के बीच में अहंकार, कौन किससे उत्पन्न हुआ है? कैसा है?

यह कहना कठिन है। अर्थात् अहंकार अनिर्वचनीय है।

भगवान का निर्णय हैः——पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश तथा मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार से विभक्त होने वाली मेरी प्रकृति है। (गीता 7—4) भगवान ने आठ प्रकार की प्रकृति को अपरा कहा है और जीव रूप चेतना प्रकृति को परा नाम दिया है। परा प्रकृति द्वारा ही सम्पूर्ण जगत धारण किया गया है। परा और अपरा प्रकृति दोनो को लेकर परमेश्वर की नौ प्रकार की देह है। यह समग्र विश्व परमेश्वर की ही विराट देह है, इस विराट रूप को जो देखता है वही दिव्य चक्षु से सम्पन्न है। ऐसा दृष्टा ही संसार चक्र में नहीं पड़ता है।

वाह्य नेत्रों से पशु पक्षी भी दृश्याकार को देखते हैं। जो मनुष्य आँखों से दीखने वाले रूप में सम्मोहित होकर अटक जाता है उसे ही मूढ़ कहते हैं।

हमें यह भी समझाया गया है कि—जिसमें सांसारिक इच्छायें कामनायें हैं वही जीव है और जिसकी शक्ति से जीव की इच्छाये पूरी होती हैं वही आप्त काम पूर्ण काम परमेश्वर है। अज्ञानी भक्त अपने भगवान से अहंकार गत कामनाओं वासनाओं की पूर्ति चाहता है और ज्ञानी भक्त अहंकार की ही निवृत्ति चाहते हुए आत्मा में नित्य तृप्ति चाहता है।

जहां तक अहंकार, साधना आराधना उपासना करता है वहां तक अज्ञान है और जब करने के लिये कुछ रह ही नहीं जाता क्योंकि परमात्मा नित्य प्राप्त अनुभूत होता है यही ज्ञान है।

इसीलिये अज्ञानी भक्त को भगवान की प्राप्ति के लिये और भगवान से कुछ पाने के लिये जप कीर्तन पाठ पूजा उपासना आदि साधना करनी होती है लेकिन ज्ञानी भक्त, अपने प्रभु को अपने से भिन्न देखता ही नहीं और संसार में पाने योग्य कुछ दीखता ही नहीं क्योंकि ज्ञानी भक्त परम प्रभु से नित्य युक्त, अर्थात निरन्तर मिला हुआ परम शान्ति से अथवा परमानन्द से पूर्ण तृप्त रहता है, वह कुछ चाहता ही नहीं इसीलिये ज्ञानी भक्त भगवान को अति प्रिय है क्योंकि वह प्रभु के प्रेम से ही परम तृप्त है। इसीलिये उसे कुछ करना ही नहीं है।

अहंकार जब तपस्वी त्यागी बनता है तब शक्ति सम्पन्न हो जाता है किन्तु प्रेम के साम्राज्य में अहंकार का प्रवेश नहीं होता इसीलिये भगवान की भक्ति में अहंकार ही बाधक बनता है।

महाराष्ट्र में ज्ञान देव जी बाल्यकाल से ही सिद्ध सन्त थे इनकी प्रसिद्धि ख्याति दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती थी उसी समय चांगदेव एक प्रसिद्ध योगी थे, यह सौ वर्ष आयु बीत जाने पर समाधि बल से मृत्यु को टाल देते थे–इस प्रकार चौदह बार चांग देव ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। चांगदेव ने ज्ञान देव की परीक्षा लेनी चाही।

योगाभ्यास करते हुए चौदह सौ वर्ष का पुराना अहंकार, ज्ञान देव की ख्याति से अशान्त रहने लगा। ज्ञान देव को देखने की उत्सुकता होती थी

लेकिन अपनी ओर से ज्ञान देव महाराज के पास जाना अहंकार को प्रिय न था, एक दिन पत्र लिखने बैठे तब प्रणाम लिखने में आयु का अभिमान बाधक बना और आशीर्वाद देने में अपनी अपूर्णता हीनता ने रोक दिया, अन्त में कोरा कागज भेज दिया उस कोरे कागज को देखकर ज्ञान देव ने पढ़ लिया और मुक्ता बाई ने उत्तर लिखा कि 'यह भेजा हुआ कोरा कागज पढ़ने से यह अर्थ निकलता है कि चौदह सौ वर्ष की आयु बीत जाने पर जो होना चाहिये वह नहीं हो सका, अभी कोरा का कोरा है। उस कोरे जीवन में बहुत सुन्दर लिखा जा सकता है अथवा कुछ भी लिखा जा सकता है, यही परीक्षा पत्र का उत्तर था।

मुक्ताबाई का लिखा पत्र पढ़कर चांग देव जी ज्ञान देव के दर्शन के लिये चले। सिंह पर सवार हुए काले नाग का चाबुक बनाया। जब ज्ञान देव ने सुना कि सिंह पर सवार होकर योगी जी मिलने आ रहे हैं तब उनके स्वागत के लिये जिस दीवार पर बैठे सत् चर्चा कर रहे थे, उसी दीवाल को आज्ञा दी कि तू भी चल।

वह दीवाल चांग देव के स्वागत के लिये चलने लगी। चांग देव ने अपनी सिद्धि का परिचय जिस प्रकार दिया था उसके उत्तर में ज्ञान देव ने अपनी संसिद्धि का परिचय दिया तब चांग देव को आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह जाना कि मैंने योगाभ्यास की शक्ति से सचेतन प्राणी पर अधिकार प्राप्त किया है लेकिन जड़ वस्तु पर मेरा अधिकार नहीं है। ऐसा देखकर चांग देव ने शिष्यत्व स्वीकार किया।

पूर्ण ज्ञान में ही अहंकार समर्पित होता है जिस प्रकार मन चित्त, बुद्धि की अपनी अपनी सीमा में गति ही असत अथवा सत से सम्बन्धित बनाती है उसी प्रकार अहंकार की अधोगति, सत परमात्मा से विमुख और ऊर्ध्व गति सन्मुख बना देती है।

यह जीव अहंकार पूर्वक जब परमात्मा की शक्ति को लेकर संसार को देखता है तभी संसार के विनाशी नाम रूपों से तद्रूप ज्ञान को एवं प्रेम को लेकर सम्बन्ध विच्छेद का दुख भोगता है।

यह जीवात्मा जब परमात्मा से मिले हुए ज्ञान प्रेम एवं सभी प्रकार के बलों को परमात्मा के ही जानकर अपने को परमात्मा में समर्पित देखता है और अपने में परमात्मा का ही अस्तित्व देखता है तभी सीमाओं से मुक्त होकर बिन्दु की भांति आनन्द सिन्धु में मिल जाता है––यह इसकी सद्गति है। ज्ञान से सदगति होते ही जीवात्मा को प्रेम से परमगति प्राप्त हो जाती है।

अहंकार से मिलकर जीवात्मा की गति जगत की ओर होती है और अहंकार से छूटते ही परमात्मा में जीवात्मा की परम गति हो जाती है।

जो अव्यक्त है, कभी नष्ट नहीं होने वाला अक्षर है, उसी में जीव की परम गति होती है (गीता 8/21)

अज्ञान में दुर्गति, ज्ञान में सदगति, प्रेम में परम गति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

इस पृथ्वी में अनेकों प्रकार का खनिज वर्ग है। अनेकों प्रकार का वनस्पति वर्ग है? तदुपरान्त प्राणी वर्ग में अनेकानेक कोटियां हैं। इन सभी वर्गों को कोई सर्वज्ञ अन्तर्यामी महाशक्ति ही जानती होगी।

पृथ्वी में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वर्ग है। इस मनुष्य वर्ग में भी अधम, मध्यम, उत्तम और अतिउत्तम कोटियां देखी जाती हैं।

मनुष्यों के ऊपर देव वर्ग है, देवताओं के ऊपर ईश्वर है, सर्वोपरि परमात्मा ही सर्व का आश्रय है।

सब कुछ के आदि में, एवं मध्य में और अन्त में परमात्मा ही है परन्तु उसे उत्तम कोटि के मनुष्य ही मानते हैं और कालान्तर में जानते हैं, वही परम विश्राम को प्राप्त होते हैं।

परम विश्राम के लिये ही परम गति की अपेक्षा होती है। परम गति के लिये उच्च कोटि का मनुष्य वर्ग सदगति प्राप्त करता है। सदगति के लिये उन्नति तथा उन्नति के लिये प्रगति एवं प्रगति के लिये महत्वाकांक्षा, महत्वाकांक्षा के लिये गतियों में संघर्ष वेदना प्रेरक बनती है, इस प्रकार समस्त जगत क्रमबद्ध चल रहा है।

सन्त अपने को समझा रहे हैं:–

दादू करता मत बनो करता औरै कोय।
करता है सो करेगा, तू मत करता होय।।

जीव करता बनने के कारण ही भोक्ता बनता है। जितना ही सुख का भोक्ता बनता है उतना ही दुःख का भोक्ता बनना पड़ता है। इसीलिये गुरु

जन कहते हैं कि दुख भोग से बचना हो तो सुख भोग के आरम्भ में ही सावधान होकर देखो, मनन करो विचार करो कि यह सुख क्षणिक है, मानने से ही प्रतीत हो रहा है केवल अनुकूल विषय–स्पर्श की वेदना है। ध्यान से देखने पर केवल प्रतीति मात्र है, सत्य नहीं है और कोई सुखदाता तो है ही नहीं केवल मान लिया जाता है। यही अहंकार की मूढ़ता है, मूर्खता है।

अहंकार को ध्यान से देखो! इसके रंग को, रूप को, इसकी शक्ति को और शक्ति के मूल श्रोत को ध्यान से देखो।

भगवान का निर्णय हैः–

प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पूर्ण कार्य हो रहे हैं परन्तु अहंकार विमूढ़ता के कारण अपने को कर्ता मान रहा है (गीता 3/27)

हमें यह भी ज्ञान में दिखाया गया है कि अज्ञान में ममता कामना, आसक्ति अभिमान रहने तक किसी भी, बने हुए साधु, सन्यासी, त्यागी, तपस्वी अथवा बने हुए ज्ञानी, ध्यानी, भक्त, गुरु को भी परम शान्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। सुख ही मिल सकता है।

अहंकार को जब तक ज्ञान में नहीं देख लिया जाता तब तक यह अहंकार ही देहाभिमानी बनकर अपने को श्रेष्ठ या तुच्छ, ऊँच या नीच, पुत्र पति पिता आदि मानकर निर्धन या धनी, दुर्बल या बलवान मानकर तथा दोषी या गुणवान मानकर, अज्ञानी या ज्ञानी मानकर कभी आसक्त कभी विरक्त मानकर, इसी प्रकार अपने को गृहस्थ या सन्यासी, असतसंगी या सत्संगी मानकर मान्यता की परिधि में भोगी ही बना रहता है। अहंकार को अपनी मान्यता का प्रबल मोह होता है और अपनी कृतियों में आसक्ति रहा करती है।

इस प्रकार की आसक्ति तब तक नहीं टूटती जब तक सुखोपभोग के परिणाम में कठिन दुखाघात नहीं लगता तब तक अनेकों प्रकार के उपदेशों को सुनकर पढ़कर भी श्रोताओं वक्ताओं तथा शिष्यों एवं गुरुओं को भी बने हुए अहंकार का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अहंकार ही तो श्रोता वक्ता शिष्य गुरु बनता है। ज्ञानी बनने वाला भी अहंकार है। अहंकार न रहने पर ज्ञान मात्र रहता है ज्ञानी नहीं रहता।

जहां करना पड़ता है वहां अहंकार कर्ता है और उसी को भोक्ता बनना पड़ता है वहां प्रेम की पूर्णता नहीं है। जहां प्रेम की पूर्णता है वहां करने का अभिमान नहीं है। वहां तो सर्व शक्तिमान परमात्मा की सत्ता से सब कुछ होता हुआ दीखता है। चित्त की वृत्ति जब शान्त होती है तब अहंकार नहीं होता।

वस्तु व्यक्ति के सम्बन्ध से मैं सब कुछ बन जाता है और सभी कुछ अपने लिये मानने लगता है यही अहंकार है। यह अहंकार अपने ही द्वारा अपनी सीमायें बनाकर अपने को बांधे हुए हैं। इस अहंकार की जब तृप्ति होगी तब आत्मा परमात्मा के योग से ही होगी, संसार के द्वारा नहीं हो सकती।

प्रेम से जितना अहंकार पिघलता जलता जाता है उतना प्रेम की पूर्णता बढ़ती जाती है।

कठोर अहंकार प्रेम का विरोधी है, सरल तरल अर्थात् पिघलता हुआ अहंकार प्रेम पूर्णता की सीढ़ी है।

परमात्मा सर्वत्र सर्वदा सुलभ है परन्तु उसकी अनुभूति के लिये प्रेम की अपेक्षा होती है।

पुण्य दान की कमी में डाकू बाहरी सम्पत्ति में आक्रमण करते हैं परन्तु अज्ञानवश रहने में, हमारी दैवी सम्पदा पर हमला करने वाली अहंकार गत आसुरी वृत्तियां होती हैं।

यह भी भगवान का निर्णय है कि आत्मा परमात्मा के योग में पाप ही बाधक होते हैं और समस्त पापों का मूल अज्ञानवश नहीं दीखने वाला अहंकार है। अहंकार में ही समस्त पाप बनते हैं इसीलिये भगवान ने बताया है कि जो ममता रहित है अहंकार रहित है उसे ही शक्ति प्राप्त होती है जब कामनायें नहीं रहतीं, कोई स्पृहा नहीं रहती तब शान्ति प्राप्त होती है। (गीता 3/71)

अहंकार ही घमण्डी, कामी, क्रोधी, ममता से बंधा हुआ सुखासक्त अशान्त रहता है, यह अहंकार ही अज्ञानवश शान्ति के लिए धन के लिए, परिवार का, पदाधिकार का सहारा लेता है। जब सब ओर से निराश हो जाता है तब तीर्थों में, मन्दिरों में, सन्तो महात्माओं से शान्ति प्राप्ति की आशा करता है और शान्ति के लिये ही यह अहंकार भूमि भवन, धनादिक वस्तुओं का त्यागी बनता है, फिर त्याग तप के द्वारा यह अहंकार अपने दर्शकों से सन्मान पूजा चाहने लगता है। यह अहंकार गृह त्यागी, बन कर आश्रम धारी, सिंहासनधारी, मठाधीश आदि क्या–क्या बनने का प्रयास करता है परन्तु तृष्णावश अनेकों पदाधिकारी बनकर बहुत धन पाकर शान्ति आनन्द को प्राप्त नहीं होता। इसीलिये इस अहंकार को ज्ञान में देखते रहना हम साधकों के लिये परम हितप्रद है।

जिस प्रकार एक सम्बन्धित परिवार में अनेकों सदस्य अपनी अपनी अनुकूलता का सुख भोगते हैं इसी प्रकार मनुष्य के साथ सूक्ष्म रूप में रहने वाले देवता दानव राक्षस ओर पशु अपने अपने अधिकार के भीतर सभी सुख भोगी होते हैं।

मनुष्य के अहंकार को यह ज्ञात नहीं होता कि इस देह का आश्रय लेकर अनेकों भोगी अपनी अपनी वासना अनुसार, इन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा बुद्धि के द्वारा, चित्त अहंकार के द्वारा, भोग के भागीदार हैं। मनुष्य की स्थूल देह में ही लाखों जीवाणु अपनी अपनी खुराक लेकर जी रहे हैं।

देह में एक फोड़ा हो जाता हे उसमें कीड़े हो जाते हैं मनुष्य फोड़े के दर्द से दुखी हो रहा है किन्तु फोड़े के कीड़े फोड़े की जगह में जीकर सुखी हो रहे हैं, वह छोड़ना नहीं चाहते। जिस प्रकार अहंकार देह में अपना अधिकार मानता है उसी प्रकार फोड़े के तथा मल में आंतों में होने वाले कीड़े अपना अधिकार इसी देह में मानते हैं जीते हैं।

जीवन यात्रा में अहंकार इसी प्रकार त्यागी बनाता है, बाहर से ही विरागी अथवा तपस्वी बनता है और दम्भ पाखण्ड करता है। अहंकार इतना ही कर सकता है। आन्तरिक त्याग में तो अहंकार ही त्यागा जाता है।

हमें ज्ञान में यह भी समझाया गया है कि जिस प्रकार एक बहुत ही छोटा सा बट का पीपल का बीज पृथ्वी से मिलकर क्रमशः रूपान्तरित होते होते विशाल वृक्ष बन जाता है किन्तु वृक्ष होने तक बीज को बहुत लम्बी यात्रा करनी पड़ती है उसी प्रकार पशु से प्रभु तक अर्थात् जीव से ब्रह्म होने तक भी लाखों करोड़ों वर्षों की यात्रा करनी पड़ती है।

आज जो हमें महान आत्मा, जीवन मुक्त दीख रहा है वही कभी पापात्मा, महानबद्ध था और आज जो महा पापी दीख रहा है वह कभी महात्मा होगा।

जो यथार्थदर्शी, तत्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष हैं वह इसी प्रकार देखते हुए किसी पापी से, पतित से, घृणा नहीं करते क्योंकि वह जानते हैं कि जो कोई इस समय जैसा है वैसा ही चाहिये।

मनुष्य में जैसे जैसे गुणों का विकास होता जाता है वैसे ही वैसे दुर्गुण दोष हटते जाते हैं। प्राकृतिक विधान से सब कुछ स्वतः हो रहा है।

ज्ञान में यह भी पता लगा कि अहंकार और आत्मा के बीच से काम की परिधि है। यह अहंकार काम से घिरा है, काम की सीमा पार किये बिना आत्मा राम का बोध नहीं होता। गीता में काम दुष्पूर, कभी पूर्ण न हो सकने वाला बताया है परन्तु गीता में यह पढ़ते हुए अहंकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा लगता है कि सारे संसार के मनुष्यों के लिये यह निर्देश किया गया है, अपने लिये नहीं है; इसी प्रमाद के कारण हम अनेकों साधक जन साधन भजन का फल काम की ही पूर्ति चाहते हैं।

सन्त ने हमें समझाया कि जब काम का वेग प्रबल हो तब सहस्रार में ध्यान को ले जाओ दोनों आंखों को ऊपर की ओर चढ़ा लो और ऐसा सोचो कि चेतना सर के ऊपर भाग से लगी हुई है– ऐसा करने से काम वासना शान्त हो जायेगी।

प्रायः अनेकों ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है, अनेकों साधु महात्मा ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये बड़ी बड़ी महिमा गाते हैं, विषयोप–भोग से बहुत अधिक

हानि बताते हैं परन्तु काम को कैसे जीत लें उसे वश में कर लें यह कोई बताने वाले नहीं मिलते। कहीं कहीं अगस्त के पुष्प सेवन आदि औषधियों से काम वासना शमन की बात पढ़ने को मिली है।

अहंकार की प्रबलता में चित्त अशान्त रहता है।

अहंकारी व्यक्ति को निद्रा भी कम आती है वह स्वप्न में भी बेचेन ही रहता है।

एक सन्त ने बताया है कि छः वस्तुओं में अहंकार अति आसक्त होता है– भोजन, द्रव्य, वस्त्र, स्त्री, घर और पुस्तक। आरम्भ में अहंकार को रोकने के लिये माया इन्हीं छः स्थानों से अहंकार को सम्मोहित करती रहती है। साधक के लिये बाहरी त्याग करने में पुस्तक रूपी माया कठिनता से छूटती है।

अहंकार सदैव माया में ही तृप्ति खोजता है।

हर एक मनुष्य में कभी सतोगुण की प्रधानता है तभी सतचर्चा, सतकथा, साधन, भजन में प्रीति लगा पाता है इसीलिये आध्यात्मिक ज्ञान तथा भगवदकथा, सत्संगति के सभी मनुष्य अधिकारी नहीं होते।

एक ही मनुष्य में जब सतोगुण की प्रधानता होती है तभी सत्संग सत्कथा ध्यान स्मरण जपादि साधना में मन लगता है। जब रजोगुण अधिक होता है तब लोभ प्रबल होता है और जब तमोगुण प्रबल होता है मोह अज्ञान प्रमाद आलस्य अधिक बढ़ जाता है।

परमानन्द परमात्मा को तो वही पाता है जो तीनों गुणों के पार होकर अनन्य भक्ति से निरन्तर परमात्मा को भजता है सेवता है।

ध्यान ज्ञान की महिमा न जानने के कारण इस मन की गति जब अज्ञान में होती है तब जीव बन्धन में, दुःख में, अशान्ति में रहता है और जब सद्बुद्धि द्वारा सम्यक ज्ञान में सद्गति प्राप्त करता है तब बन्धनों से मुक्ति, दुखों की निवृत्ति, एवं आनन्द की प्राप्ति होती है।

अज्ञान में इन्द्रियों के सहारे जीव, विषय–पथ में गति प्रगति द्वारा भोगी बनता है। ज्ञान में ही बुद्धियोग द्वारा भोग के अथवा प्रत्येक विनाशी वस्तुओं, व्यक्तियों के संयोगों के परिणाम की जानकारी होती है।

मन द्वारा विषय सुखों का आस्वादन होता है किन्तु परिणाम का दर्शन, मन नहीं करता। मन सुखद–दुखद वस्तु व्यक्ति–अवस्था एवं परिस्थिति को पकड़ लेता है, उन्हीं का मनन करता है परन्तु उसके अन्त को नहीं देख पाता। मन में शब्द स्पर्श रूप रस के सहारे वस्तु को ग्रहण करने की, अनुमान करने की तथा आविष्कार करने की, कल्पना को साकार बना लेने का अद्भुत सामर्थ्य है, क्योंकि मन तो भगवान की अनोखी विभूति है। इसीलिये ध्यान दृष्टा ऋषि मन की उपासना भी बता गए हैं।

यह भी गुरु निर्णय दर्शनीय है :––शून्य होने पर अखण्ड ज्ञान स्वरूप आत्मा का बोध होता है, प्रेम की पूर्णता में अनन्त परमात्मा का बोध होता है। कुछ पाना है तो कर्म करो, देखना है तो ठहरो। जीवात्मा और परमात्मा की अखण्ड एकता का अनुभव प्रेम में ही होता है। दूरी का मिट जाना ही प्रेम है।

स्वज्ञान को ही समझो। बुद्धि द्वारा जानने को ज्ञान न मानते रहो। सत्य स्वयं में ही है। स्वज्ञान से उपलब्ध साक्षात को ही दर्शन कहते हैं।

ध्यान से ज्ञान होता है। ज्ञान से दर्शन होता है। दर्शन के अनुसार ही सदाचरण बनता है।

जब चित्त विषय वृत्ति से शून्य होता है, जब केवल चैतन्य मात्र शेष रहता है वही ध्यान की स्थिरता है। बहुत साधक साकार विषयक विचार को ध्यान मानते हैं। प्रेम ही भावनाकार होकर साकार दर्शन बनता है। ध्यान द्वारा नास्तिक भावना मिटती है। ईर्ष्या द्वेषादि का नाश होता है। बुद्धि का, ज्ञान स्वरूप में लीन होना है, बद्ध होना है। बुद्धि के स्थिर होने पर परमात्मा का ज्ञान स्वतः ही प्रगट होता है।

जब मन में चित्त में कोई मान्यता एवं कोई चिन्तन नहीं होता तब जो रहता है वही सत्य है।

जिस प्रकार सागर के भीतर गागर (घड़ा) सागर को खण्ड खण्ड कर देता है उसी प्रकार इस मैं रूपी पात्रों ने चेतना को खण्ड खण्ड सा कर रक्खा है। जितने मैं उतने ही चेतन प्रतीत होते हैं।

समझ में कठिनता से आने वाली बात है लेकिन यह समझ ही लेना है कि ध्यान के भीतर प्रवेश करना ही दर्शन के द्वार में प्रवेश करना है। जब मन ही भगवान का मन्दिर बन जाता है तब संसार के स्थान में भगवान का दर्शन होने लगता है परन्तु ऐसा तभी होता है जब 'मैं' का आकार मिट जाता है, भक्त जन इसे ही कृपा साध्य कहते हैं। जैन तीर्थंकर इसे तप से प्राप्त करते

हैं, बुद्ध, कुछ न रहकर परमाश्रय का अनुभव करते हैं। मनुष्य के बनाये हुए मन्दिरों की दीवारें हैं परन्तु परमात्मा के मन्दिर की दीवार नहीं है।

अज्ञान की अद्‌भुत महिमा तो देखो! हम अनेकों साधक आत्मा को खोजते हैं लेकिन शरीर रूपी दीवार को नहीं देखते यह दीवार ही दर्शन में बाधक है।

हम परमात्मा को खोजते हैं परन्तु संसार रूपी दीवार के भीतर प्रवेश नहीं कर पा रहे हैं– यही अज्ञान है इस अज्ञान को ज्ञान में देखना है और ज्ञान के लिये ध्यान का आश्रय लेना है।

सन्त ने बताया कि सीमित ज्ञान ही अहंकार है और असीमित ज्ञान आत्मा है।

अहंकार तो उसी भांति साथ चलता है जिस प्रकार देह की छाया चलती है परन्तु छाया को वही देखता है जो प्रकाश की ओर पीठ कर लेता है। जो ज्ञान प्रकाश को देखता है, अथवा प्रकाश को जान लेता है वह छाया के पीछे नहीं भागता, छाया उसके पीछे चलती सी दीखती है।

ज्ञान में ही समझ सकते हो कि संकल्पों से मुक्त मन आत्मा है। तुम सदैव आत्मा में ही हो, अभी हो, तुम्हीं आत्मा हो, नित्य सिद्ध हो।

समस्त बन्धन अहंकार की आसक्ति के भीतर रहते हैं। तुम अज्ञान में निरन्तर देह तो बने रहते हो परन्तु निरन्तर आत्मा होकर नहीं रह पाते यही अभ्यास की कमी है।

जब नींद टूटती है उस समय दृश्य प्रपंच की स्मृति जितनी देर तक उदय न हो उतनी देर आत्मा ही शेष है उसे अनुभव करो उसी में 'मैं' का स्फुरण होता है। 'मैं' का ही आकार बनता है अहंकार से मन उत्पन्न होता है, वही मानता है मनन करता है। जहां स्वास लीन होती है वहीं से मैं भाव जाग्रत होता है।

हमें बताया गया है कि इस शुद्ध चेतन मैं को विचारों संकल्पों को शान्त न करके अनुभव करो। जब कोई विचार न उठता हो, कोई संकल्प न बनता हो तब शुद्ध चेतन तत्व आत्मा ही है। एक सन्त ने कहा कि यदि तुम अधिक शान्त रह सको तो जागरूकता रहेगी और जाग्रत रहो तों शान्ति स्थिर दिखाई देगी।

ज्ञान से देखो! परमात्मा उसे ही कहते हैं जो नित्य निरन्तर जाग्रत है।

संसार का मूल अथवा जन्म मरण का भोगी यह अहंकार ही है। अहंकार ही क्षण मात्र में अपनी सृष्टि रच लेता है।

'यह मैं नहीं हू', इस भावना से यह अहंकार किसी अन्य की सहायता लिये बिना ही स्वप्रयत्न से नष्ट हो जाता है।

छान्दोग्य 3003, 14 में कहा है 'अथ खलु क्रतु मयः पुरुषः।'

अर्थ––यह पुरुष अपनी इच्छामय बना है। जैसा भी पुरुष का विचार होता है, चिन्तन चलता है वैसा ही वह हो जाता है।

जो देह के चिन्तन से देहमय, परिवार में सम्बन्धियों के चिन्तन से पितामय, मातामय, पुत्रमय, पति पत्नीमय, जातिमय, तथा दुखसुखमय मनोमय

बना हुआ है वही नित्य अविनाशी आत्मा के चिन्तन से एवं ब्रह्म के चिन्तन से, आत्मामय ब्रह्ममय हो जाता है।

जो पुरुष मोहमय लोभमय काममय है वही ऊपर उठकर श्रद्धामय ज्ञानमय प्रेममय होता है।

पुरुष की श्रद्धा में जो नाम रूप भर जाते हैं, श्रद्धा उसी मय बन जाती है। पुरुष के ज्ञान में जो नाम रूप भर जाते हैं ज्ञान उसी मय बन जाता है। पुरुष के प्रेम में जो नाम रूप समा जाते हैं, तब उसका प्रेम, उसी मय तदाकार हो जाता है।

ज्ञान में दर्शन के प्रभाव से सतोगुणी श्रद्धा ही मुक्ति तथा भक्ति में सहायक होती है।

कैसी विचित्र माया है कि अज्ञान में यह अहंकार ज्ञानी बन कर अपनी पूजा कराता है। योगी बन का भोग की पूर्ति करता है। रामायण के द्वारा राम भक्त बन कर धन लाभ करते हुए सन्तुष्ट नहीं होता है।

अज्ञान में यह अहंकार तपस्वी बनकर वासना पूर्ति के अवसर खोजता है। अहं ब्रह्मास्मि शिवोहं कहते हुए लोगों को देह का उपासक बनाता है।

अज्ञान में यह अहंकार गृह त्यागी बन कर बड़े आश्रय का स्वामी होता है। परिवार का त्यागी बन कर शिष्य से विकारों का रागी होता है।

अज्ञान में यह अहंकार विरागी बन कर, सुखोपभोग की धन की, मान की, तथा अपने नाम की आकांक्षा पूर्ण करने में अनेकों प्रकार के दम्भ पाखण्ड करता है।

इस अहंकार के साथ जितने अधिक संचित पुण्य होते हैं उतने ही अधिक समय तक इच्छानुसार कामना वासना की पूर्ति का सुख भोगते हुए अन्त में प्रभु की कृपा से ज्ञान में अपनी भूल को, भ्रम को, अज्ञान को, जानता है।

अज्ञान में कोई भोजन, विविध पकवान सिद्ध करना चाहे, अज्ञान में कोई सुन्दर वस्त्रों की सिलाई चाहे, अज्ञान में कोई वीणा सितार से मनोहर संगीत निकालना चाहे, अज्ञान में कोई प्राप्त शक्ति सम्पत्ति आदि का सही उपयोग करना चाहे तो निश्चित है कि उसे असफलता ही भोगनी होगी। इसी प्रकार अज्ञान में कोई शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्द, अथवा नित्य प्राप्त सत् परमात्मा का अनुभव करना चाहे तो अज्ञान वश वह अशान्ति से, दुख से, अथवा अनित्य से असत् से अपने को मुक्त न कर पायेगा।

इस निर्णय अनुसार यह समझ लेना आवश्यक है कि हम अनेकों परमार्थी साधक अज्ञान में ही शान्ति प्राप्ति का अथवा आनन्द प्राप्ति का, स्वतन्त्र होने का, निर्भय निश्चिन्त रहने का प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञान में ही भगवान को परमात्मा को खोज रहे हैं। अज्ञान में ही त्यागी तपस्वी सन्यासी, उदासी वैरागी, साधु सिद्ध बन कर अहंकार को सन्तुष्ट कर रहे हैं परन्तु जैसे हैं वैसे देख नहीं पाते और जो होना चाहिये वह हो नहीं पाते। यही अज्ञान का परिचय है।

मैं सुन रहा हूं, पढ़ रहा हूं कि ध्यान योगी, तपस्वी लोगों से भी अधिक तथा परोक्ष शास्त्र ज्ञानियों से भी अधिक एवं कर्मकाण्डियों से भी अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

सभी प्रकार के योगियों में सर्वोपरि श्रेष्ठ वही है जो परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा रखता है, जिसका मन आत्मा में ही स्थिर है, जो सर्वत्र आत्मा के ही चिन्तन ध्यान में तल्लीन है। ऐसा ध्यानी, अहंकार के बल से कदापि नहीं हो सकता अतः इस अहंकार की ग्रन्थि कैसे छुटे? कैसे टूटे? इसका विवेक, बुद्धि योग द्वारा ही होता है, वह बुद्धि योग भी प्रभु कृपा से ही मिलता है और प्रभु कृपा प्रीति पूर्वक भजन सेवन, सेवा से ही होती है और कृपा से ही भजन पूर्ण हो पाता है। हम साधकों को निरन्तर कृपा की ही प्रतीक्षा करते रहना है।

प्रायः जो अहंकार, धनी, विद्वान, उच्च पदाधिकारी, सर्वश्रेष्ठ श्रीमान बनना चाहता है और इसी के लिये दान, पुण्य, तप सेवा पूजा आराधना करता है वही अहंकार किसी त्यागी ज्ञानी ध्यानी की पूजा प्रतिष्ठा सन्मान देख कर स्वयं भी त्यागी सन्यासी गुरु जगत गुरु हंस परम हंस ज्ञान योगी ध्यान योगी बनना चाहता है अतः इस अहंकार को बुद्धियोग द्वारा जानना पहिचानना हम साधकों की आरम्भिक सावधानी है।

यह भी सन्त सम्मति है कि तुम अहंकार के श्रोत को खोज लो। आत्मा को अहंकार से न मिलाओ। आत्मा को जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति का साक्षी देखो। सभी अवस्थायें दशायें अहंकार की हैं आत्मा सभी अवस्थाओं के पीछे सत्ता रूप में विद्यमान है। तुम शान्त रह कर इस निर्विकार सत्ता का अनुभव करो। सभी भावों एवं विचारों का मूल श्रोत आत्मा ही है।

सन्त ने समझाया है कि अहंकार का मूल श्रोत ''मैं हूं'' है, इस 'मैं' की खोज में लगे रहना, इसे देखते रहना अभ्यास है। 'मैं' का श्रोत हृदय बताया गया है।

आत्मा भाव में न रह कर, अहंकार में रहना समस्त दुःखों का मूल है। सन्त ने यह भी समझाया है कि स्वास प्रश्वास के निरोध से मैं का बोध होता है। मैं की खोज में अथवा अहंकार के मूल श्रोत की खोज में आत्मा ही मिलती है।

'मैं' भाव जब हृदय में लीन होता है तब आत्मा अनुभव होता है। देह भाव से मिलने में द्वैत है। देह भाव छूटने में अद्वैत है। ज्ञान में देखते देखते आत्मा देहादि उपाधियों से भिन्न देखती है।

मन की चंचलता आत्म साक्षात्कार में बाधा डालती है। मन के भागते रहने की दो ही दिशा है, एक भूतकाल और दूसरा भविष्य का विस्तार। मन पर भूत चढ़ा है और भविष्य, खींच रहा है। तुम कुछ देर वर्तमान को देखो तब मन चंचल नहीं दीखेगा। चंचल होगा तब भूत भविष्य में ही होगा।

तत्त्व को जानने वाले महात्मा कहते हैं कि अहंकार के पार जो ज्ञान स्वरूप तत्व है वह निरन्तर शाश्वत परमानन्द में स्थिर है। अहंकार की सीमा के अन्तर्गत उसी परमानन्द की छाया है उसी को सुख कहते हैं। मनोमय कोष में ही सुख रूप से भासित होता है वही विज्ञान मय कोष के पार परमानन्द है।

शुभ अशुभ का, तथा पाप पुण्य का, जन्म मृत्यु का, स्वर्ग नर्क का, सुसंगति अथवा कुसंगति का प्रभाव अहंकार में ही पड़ता है। अहंकार को ही अज्ञान है।

सन्त कहते हैं अपनी सारी शक्ति युक्ति आत्मा के खोजने में लगा दो और जब मैं कहते हो तभी उसे 'मैं' में आत्मा को खोजो क्योंकि वह खोजने वाले में ही विद्यमान है।

एक सन्त कह रहे थे कि यह मैं भाव आत्मा नहीं है और आत्मा से पृथक भी नहीं है।

ज्ञान में देखते हुए अब आत्मा को अनात्मा से न मिलाओ। क्योंकि मिलने में ही अहंकार का क्षेत्र आ जाता है।

संगातीत 'मैं' ही सत्य है और 'मैं' का संकल्प अहंकार है। हमें समझाया गया है कि स्वयं का अस्तित्व ही तो आत्मा है। ज्ञान में जब आत्मा ही सर्वाकार दीखने लगता है तभी भय समाप्त हो जाता है।

आत्मा में न तो सदगुण हैं न दुर्गुण हैं। सदगुण मनोमय उपाधियां हैं।

जो कुछ हमने बनाया है उसे हमको मिटाना होगा।

प्रत्येक साधक को ध्यान से यह देखना अत्यावश्यक है कि हमारे साथ ऐसा क्या है जो परमात्मा की प्रकृति से मिला है और ऐसा क्या है जो हमने बनाया है।

देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, हमने नहीं बनाये, हमें मिले हैं। इसी प्रकार माता–पिता, पति–पत्नी, पुत्रादि सम्बन्धियों के शरीर हमने नहीं बनाये लेकिन सम्बन्ध हमने बना लिया है। इसीलिए संसार की वस्तु बन्धनकारी नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारी है।

प्रायः हम अनेकों लोग गृह छोड़कर भूमि तथा धन परिवार छोड़कर भागते हैं लेकिन सम्बन्ध छोड़कर नहीं भाग पाते। इसीलिए बाहर से त्याग करने पर भी सम्बन्ध की विस्मृति नहीं हो पाती।

भूमि, भवन, भोग तो छूट ही जाते हैं लेकिन वासना नहीं छूट पाती। वासना का मण्डल यह मन ही है इसलिए मन का छोड़ना ही वासना से मुक्त हो जाना है। राग–द्वेष, आसक्ति–विरक्ति मन के ये दोहरे रूप हैं।

एक महात्मा ने बताया कि विद्वानों का कहना है कि मनुष्य मनु का पुत्र है लेकिन ध्यान से देखने पर मन का ही पुत्र दिखाई देता है। जिसके साथ मन है वही मनुष्य है। मन को खोते ही मनुष्य परमात्मामय हो जाता है।

इच्छा, तृष्णा, कामना वासना का विस्तार ही मन का विस्तार है। मन के न रहने पर सन्यास की पूर्णता होती है।

कोई हिन्दू हो या मुसलमान हो बौद्ध हो या जैन हो हर एक व्यक्ति अपने आपको और माने हुए धर्म को नष्ट करता है, कोई दूसरा किसी के स्वधर्म को नष्ट नहीं कर सकता। मनुष्य के बनाये हुए भगवान तथा भगवान के मन्दिर या मस्जिद या गिरजा घर मनुष्य द्वारा तोड़े जा सकते हैं लेकिन किसी के द्वारा वास्तविक भगवान ईश्वर नहीं तोड़ा जा सकता है।

अहंकार जो कुछ बनाता है उसी मय वह स्वयं ही बन जाता है, इसीलिये अहंकार जिस आकार प्रकार को अपना मान लेता है उसका कोई भी भाग टूटने पर अहंकार का ही भाग टूटता है और अहंकार को अति कष्ट होता है तभी अहंकार क्रोध में होकर हिंसा प्रतिहिंसा में शक्ति को नष्ट करता है।

अहंकार धर्म को मानकर, ईश्वर को मानकर, धर्म पालन का, ईश्वर की आराधना उपासना साधना का तथा भजन पूजन का अभिनय करते हुए अपने को धर्मात्मा भक्त पुजारी सिद्ध करता है लेकिन वास्तविक धर्म को ईश्वर को जान नहीं पाता। मनुष्य की आकृति में यदि मानवता जाग्रत हो उसे तो समझाया जा सकता है लेकिन पशु अंश की प्रबलता में समझाना व्यर्थ होता है। मानव की आकृति में पशु प्रकृति, कठोर अनुशासन द्वारा ही मर्यादा में रक्खी जा सकती है, यदि ऐसा सम्भव न हो सका तो मनुष्य का पशु ही उसे नष्ट करता है।

अभ्यस्त संस्कारानुसार अहंकार कार्य करता हे उसे रोकने का अभ्यास ही संयम है। समर्पण में स्वतः संयम हो जाता है लेकिन अहंकार तभी अपने को समर्पित करता है जब अपने से श्रेष्ठ उच्च शक्ति के प्रति श्रद्धा करता है और श्रद्धा तभी होती है जब बुद्धि थाह लेकर मौन हो जाती है।

शक्ति के बिना अहंकार का अस्तित्व नहीं रह सकता लेकिन अहंकार अपने अज्ञान के कारण सभी प्रकार की शक्ति को अपनी ही शक्ति समझता है।

एक यात्री रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए लोभ मोह वश सामान को सर पर धरे रहे तब गरदन तो टूटेगी ही दूसरा यात्री उसी प्रकार के सामान को नीचे रखकर उसी पर बैठा रहे सामान उसका भी गन्तव्य स्थान तक पहुंच ही जायगा इसी प्रकार अहंकार कर्ता बन कर यात्रा करता है और भक्त एवं ज्ञानी समर्पण के भाव से अथवा अकर्ता होकर यात्रा करता है। प्रचलित नमस्कार की प्रथा भी अहंकार को झुकाने और समर्पित करने की प्रथा है।

नमस्कार में अहंकार का शमन होता है। अपने उदगम में विलीन होने को शमन कहते हैं।

एक सन्त ने समझाया है कि अहंकार भूमि पर पड़ती हुई व्यक्ति की छाया की भांति है। यदि इसे कोई पकड़ने गाड़ने का प्रयत्न करे तो मूर्खता है।

आत्मा केवल एक है। सीमित आत्मा ही अहंकार प्रतीत होती है और यदि निस्सीम है तो यह अनन्त है, सत्य है।

समुद्र एक ही है लेकिन उसमें बुदबुदे एक दूसरे से भिन्न होते हैं तथा अनेक होते हैं। इसी प्रकार परमात्मा एक है और उसी में अहंकार अनेक हैं उसी में है उसी से हैं।

महर्षि रमण ने कहा है कि इससे बढ़कर और कोई रहस्य नहीं है– कि स्वयं सत्य होते हुए भी हम सत्यता प्राप्त करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि किसी वस्तु ने हमारी सत्यता को ढक लिया है और उसे प्राप्त करने के लिये पहले इस आवरण को नष्ट करना चाहिये– यह हास्यास्पद है।

जिस सत्य का बोध तुम्हें कभी होगा वह अभी है, यहीं है।

अहंकार की चिन्ता – लोग क्या कहेंगे?

ज्ञान में देखने से मनुष्य की बहुत अधिक अशान्ति का तथा चिन्ता का एवं भय का बहुत बड़ा कारण यह चिन्तन है कि लोग क्या कहेंगे? अहंकार जितना अधिक दूसरों से मिलने वाले मान पर निर्भर रहता है उतना ही अधिक वह लोगों के निर्णय सुनने के लिये बहुत अधिक सतर्क रहता है।

अभिमानी व्यक्ति सदैव यही चाहते हैं कि लोग हमें गलत न समझें। जैसा हम सुनना चाहते हैं वैसा ही कहते रहें।

लोग क्या कहेंगे? इसके लिये बहुत अधिक दिखावा, प्रदर्शन, दम्भ, छल, झूठ का सहारा लेना पड़ता है। अनेकों प्रकार की सजावट बनावट में अपनी सामर्थ्य के बाहर कर्ज लेकर लोग धन खर्च करते हैं, इसीलिये, कि लोग अपने प्रतिकूल न कह दें।

किसी के घर जाने की इच्छा नहीं है फिर भी जाना पड़ता है, जहां ठहरने में प्रसन्नता नहीं है परन्तु ठहरना पड़ता है, जल पान भोजन करने की रुचि नहीं है फिर भी करना पड़ता है, इसी भय से, कि न करेंगे तो लोग क्या कहेंगे?

जो कुछ देने का उत्साह नहीं है, वह देना पड़ता है, लेने की इच्छा नहीं है, परन्तु लेना पड़ता है, इसीलिये, कि न लेंगे तो लोग क्या कहेंगे।

आने वाले के सत्कार की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी ऊपर से सत्कार करना पड़ता है। किसी के पास बैठने का अवसर नहीं है, प्रीति भी नहीं है परन्तु बैठना पड़ता हे, इसीलिये कि ऐसा न करेंगे तो लोग क्या कहेंगे?

कभी कभी रोने की इच्छा नहीं है परन्तु दिखावे के लिये रोना पड़ता है। कभी कभी किसी की बीमारी पर अथवा मृत्यु पर जाने की सुविधा नहीं है, हार्दिक समवेदना भी नहीं है, परन्तु जाना पड़ता है, इसी भय से कि लोग क्या कहेंगे?

धन की कमी होने पर अथवा रुचि न होने पर भी शरीर को भवन को देखा देखी सजाना पड़ता है, क्योंकि चिन्ता यही है कि लोग क्या कहेंगे?

कभी घर में जनेऊ विवाह आदि कार्यों पर रिश्तेदारों को बुला कर सेवा की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी सबको बुलाना पड़ता है और आने वालों को आने की सुविधा तथा उत्सुकता नहीं है, दोनों पक्ष में भार प्रतीत होता है फिर भी इसीलिये बुलाना पड़ता है और जाना पड़ता है क्योंकि न बुलाने पर और बुलावा आने से न जाने पर, लोग क्या कहेंगे? यही भय दोनों पक्ष वालों में रहता है। लोगों के कहने का भय, बालक युवक वृद्ध गृहस्थ वनस्थ तथा बने हुए साधु सन्यासी विरक्त तपस्वी एवं बने हुए भक्त विरागी त्यागी आदि सभी के पीछे लगा हुआ है। इस भय से प्रायः समस्त मानव समाज अशान्त रहता है। केवल तत्व वेत्ता, आत्म वेत्ता एवं भक्त ही अभय है।

यह भय, कहीं कहीं तो बुराइयों से, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, चोरी, हिंसा से बचाता है और कहीं कहीं यह भय, छल कपट चोरी हिंसा के लिये प्रेरित करता है।

जिस प्रकार मनुष्य भयातुर चिन्तित होता है कि लोग क्या कहेंगे? इसी प्रकार लाखों मनुष्यों में कोई ऐसी सुमति वाले साधक साधु भक्त भी हैं जो सांसारिक मनुष्यों की ओर नहीं देखते कि लोग क्या कहेंगे? वह प्रत्येक कार्य में अथवा भावनाओं विचारों के मध्य में चिन्ता करते हैं कि सन्त सदगुरु क्या कहेंगे? विद्वान सज्जन साधु क्या कहेंगे और स्वयं भगवान क्या कह चुके हैं?

एक सन्त ने समझाया है कि यदि तुम्हारे दोषों को, पापो को, प्रभु जानता है तब संसार भले ही न जाने तुम पापों अपराधों दोषों के फल भोग से बच ही नहीं सकते।

इसी प्रकार तुम्हारे सदगुणों को पुण्यों को, शुभ कर्मों को संसार नहीं जानता लेकिन प्रभु को पता है, तब भी तुम अपने कर्मों के सुन्दर परिणाम भोग से वंचित नहीं रह सकते। इसीलिये संसार से कुछ पाने का लालच और कुछ बचाने का भय व्यर्थ है। अन्त में मृत्यु सब कुछ को व्यर्थ कर देती है।

लोग क्या कहेंगे; इस भय से धनी लोग धन का दुरुपयोग करते हैं और निर्धन लोग समय शक्ति को व्यर्थ नष्ट करते हैं।

सन्मान पाने की अथवा सन्मान प्रतिष्ठा कीर्ति को बनाये रखने की कामना ही अहंकार को लोगों की दासता में बांधे रहती है।

लोग मुझे ऐसा ही कहें, ऐसा ही समझें,, और ऐसा नहीं कहें, ऐसा नहीं समझें, इसी के लिए जीवन की वह सम्पदा——जिसके सदुपयोग से जीवन का सुन्दर निर्माण हो सकता है, जीवन बहुत ही सुन्दर, सर्व हितकर और अपने प्रभु को अतिप्रिय हो सकता है——उसी सम्पदा का दुरुपयोग, अहंकार की तृप्ति के लिये करते रहते हैं, जिससे कि जीवन असुन्दर ही बना रहता है।

हमें सावधान किया गया है कि तुम लोगों से झूठी प्रशंसा पाने के लिये उन प्रचलित प्रथाओं तथा प्रणालियों एवं मान्यताओं, रूढ़ियों के दास न बनो। तुम वही करो जिससे किसी की सेवा हो, किसी का दुःख घटता हो अथवा तुम्हारा हित सधता हो।

अनेकों आत्म हत्या की घटनायें इसी भय के पीछे अर्थात कलंक से बचने के लिये होती हैं या की जाती हैं। लोग क्या कहेंगे——इस भय से अनकों मनुष्य कुसंगति में पड़कर चोरी से व्यभिचार से जुआ से दुर्व्यसन के आरम्भ से बच जाते हैं।

इस पथिक के एक श्रद्धालु प्रेमी ने सिनेमा का उद्घाटन श्रद्धा के कारण इस पथिक के द्वारा कराया और मशीन चलाने के पश्चात कुछ देर बैठने का आग्रह किया यद्यपि उस समय केवल श्रद्धालु सत्संगी समाज ही साथ था, कोई अन्य दर्शक न थे फिर भी पथिक के मन में यही शंका उठने लगी कि लोग क्या कहेंगे? चित्र धार्मिक भाव के थे फिर भी बीच में पथिक उठके चला आया।

यह पथिक साधु वेष में है, यदि कोई कोट पैण्ट इसे पहिनने का आग्रह करे तो मन में यह भाव पहिनने से रोकेगा कि लोग क्या कहेंगे।

नौबस्ता (कानपुर) उदासीन आश्रम की महन्त साध्वी जानकी दास ने आश्रम का अधिकारी इस पथिक को बनाना चाहा क्योंकि उसके गुरु शरीर छोड़ते समय ऐसा संकेत कर गए थे, मैंने उस आश्रम को लेना अस्वीकार कर दिया, चार वर्ष बाद निराश होकर उसने एक कमेटी बनाकर मेरा नाम उसके प्रबन्धकों में दे दिया, अभी उस महन्तिन के शरीर छुटने पर समाचार पत्रों में निकला कि उसने छः लाख या दो लाख की सम्पत्ति पथिक जी के नाम रजिस्ट्री कर दी है– इस पथिक को समाचार पत्रों की खबर बताई गई इस पथिक के मन में यही आशंका जाग्रत हुई कि दुनियादारों की परवाह नहीं परन्तु जो इस पथिक को त्यागी विरक्त मानकर श्रद्धा रखते हैं, जिनकी यह

मान्यता है कि पथिक जी आश्रम कुटी बनाने के पक्ष में कभी नहीं रहे, वह लोग क्या कहेंगे? इस पथिक को भी चिन्ता हो गई।

ऐसे बहुत लोग हैं जो अपनी प्रबल वासना कामना इच्छा को पूरी किये बिना नहीं रह सकते, उन्हें ईश्वरीय विधान का कोई भय नहीं है लेकिन मनुष्य की ओर से निन्दा का भय कलंक का भय, अपकीर्ति का भय, छल कपट और कभी कभी हिंसा के लिये विवश कर देता है।

लोग क्या कहेंगे? यह भय तपस्वी की, त्यागाभिमानी को, सदाचारी को, परमार्थ पथ में चलने वाले साधु सन्यासी को, अमर्यादित भोग से, असंयम से, रागासक्ति से, दुराचार से, पाप प्रपंच से बचाता रहता है।

लोग क्या कहेंगे? यह भय मान, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति अभिमानी अहंकार को ही होता है इसीलिये चाहे गृहस्थ हो या बनस्थ हो, चाहे रागी हो या त्यागी हो, वैरागी हो सन्यासी हो उदासी हो–कोई भी हो–जब तक अहंकार है तब तक दूसरा दिखना समाप्त नहीं होता और जब तक आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी दीखता रहेगा तब तक भय पीछे चलता ही रहेगां

रमण महषि ने कहा है कि भय एक संकल्प मात्र है। जब अहंकार उदय होता है तब दृश्य पदार्थों को वाह्य रूप में देखता है। यदि अहंकार उदय न हो तब केवल आत्मा ही रहती है, वहां अन्य कुछ भी नहीं रहता।

यदि देह भाव को त्यागकर साधक आत्म भाव में रहने का अभ्यास दृढ़ कर ले तब कोई भय नहीं होगा कोई दुःख नहीं व्यापेगा।

तुम भीतर नित्य सत्य को जानो और उसी में जियो। परमात्मा रूपी सागर में तैरने का आनन्द लेने के लिये तुम्हें भीतर से शून्य (खाली) होना पड़ेगा। सन्त की संगति से तैरने की कला सीख लो। किसी सन्त की मूर्ति में ही मन को सम्मोहित करते हुए सन्तुष्ट न रहो। सन्त का स्वभाव धारण करो; केवल वेष बना कर अहंकार को तृप्त न करो। तुम गीता में वर्णित नित्य सन्यासी हो जाओ, अनित्य नहीं।

तुम शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित वक्ता भी बन जाओ, चतुरता पूर्वक वस्तुओं की सुरक्षा भी कर लो परन्तु राग द्वेष के रहते तुम भय चिन्ता अशान्ति से नहीं बच सकते।

इस प्रकार के गुरु निर्देश सन्देश उपदेश पढ़ते सुनते हुए भी प्रायः हमारे भीतर दोषों के त्याग का और प्रभु के प्रति अनुराग की दृढ़ता का संकल्प नहीं होता क्योंकि अहंकार में धन मान भोग तृष्णा प्रबल है।

यह भी गुरु सम्मति है कि तृष्णा के पाश से मुक्त होने के लिये दुखी होकर भगवती से प्रार्थना करो। किसी से प्रार्थना करो। किसी ने प्रार्थना की है——

या देवी सर्व भूतेषु तृष्णा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

हे सर्व शक्तिमयी देवी तुम सब भूत प्राणियों में तृष्णा के रूप में स्थित हो तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

किसी ने प्रार्थना की है :–

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा नहि।

एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यं तथा कुरु।।

अर्थ——मेरे समान दूसरा कोई पापी नहीं होगा और तुम्हारे समान पापों को नष्ट करने वाली दूसरी शक्ति नहीं दीखती इस प्रकार जानकर हे महादेवी जैसा उचित लगे वैसा करो।

किसी ने प्रार्थना की है——

संसार कूपे पतितो ह्यगाधे मोहान्ध पूर्णे विषयाति सप्तः।
करावलम्बं मम देहि नाथ गोविन्द दामोदर माधवेति।।

अर्थ——संसार रूपी अथाह कूप में मैं गिरा हुआ मोह रूपी अंधकार में अति विषयासक्त हो रहा हूँ, हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव! मुझे अपने कर कमलों का अवलम्ब दीजिये।

वेदों में अनेकों प्रार्थनायें हैं :——यथा

असतोमां सद्गमय तमसो मां ज्योतिर्गमय मृत्योर्माममृतं गमय।

———

यह पथिक भी प्रार्थना करता है :——

हे प्रेममय प्रभु ऐसी दया हो, जीवन निरर्थक जाने न पाये।
जब तक अविद्या अज्ञान में हम, कुछ बन न सकता मेरे बनाये।।
ऐसा जगा दो फिर सो न जायें, साधक बनें प्रेम प्रज्ञा जगायें।
ममता अहंता को त्याग पायें, भय भ्रान्ति दुख कुछ भी रह न जाये।।
वह योग्यता दो सेवा करें हम, कष्टों के सन्मुख धीरज धरें हम।
अपना हृदय सद्गुण से भरें हम, मन में न कोई दुर्भाव आये।।
तुमने दयामय नरतन दिया है, यह बुद्धि दी है, यह मन दिया है।

निज पूर्णता का साधन दिया है, उपयोग की विधि सद्गुरु बतायें।।
हे प्रभु हमें निरभिमानी बना लो, धन मान श्रम के दानी बना लो।
सर्वत्र अपना ध्यानी बना लो, हम हैं पथिक यह आशा लगाये।।

————

अब तुम्हारी शरण हे प्रभु।।

चतुर्दिक हम भटक आये, मन तुम्हीं में शान्ति पाये।
तुम्हीं से ही सब प्रकाशित, जगत जीवन मरण हे प्रभु।।
तुम्हीं तो आनन्दघन हो, अकिंचन के परम धन हो।
हुआ करता सभी के हित, तुम्हारा अवतरण हे प्रभु।।
सदा सद्गति तुम्हीं देते, धृति विमल–मति तुम्हीं देते।
तुम्हीं से ही शुद्ध होता, हमारा आचरण हे प्रभु।।
विश्व निर्माता तुम्हीं हो, शक्ति के दाता तुम्हीं हो।
तुम्हीं से ही हो रहा हे, सकल पोषण भरण हे प्रभु।।
बना लो अब हमें ज्ञानी, पूर्ण प्रेमी निरभिमानी।
हे कृपालो अभयदानी, तुम्हीं तो दुख हरण हे प्रभु।।
तुम्हारे ही ज्ञान द्वारा, तुम्हारे ही ध्यान द्वारां
तुम्हें पा जायें पथिक हम, तोड़ कर आवरण हे प्रभु।।

————

बता दो प्रभो तुमको पाऊँ मैं कैसे।
विमुख होके सन्मुख अब आऊँ मैं कैसे।।

विषय वासनायें निकलती नहीं हैं।
ये चंचल चपल मन मनाऊँ मैं कैसे।।

कभी सोचता हूँ तुमको रोकर पुकारूँ।
पर ऐसा हृदय को बनाऊँ मैं कैसे।।

प्रबल है अहंकार साधन न संयम।
ये अज्ञान अपना मिटाऊँ मैं कैसे।।

कठिन मोह–माया में अतिशय भ्रमित हूँ।
प्रभो बिन दया पार जाऊँ मैं कैसे।।

हृदय दिव्य आलोक से जो विमल हो।
विनय किस तरह की सुनाऊँ मैं कैसे।।

दयामय तुम्हीं मुझ 'पथिक' को सम्हालो।
मैं कितना पतित हूँ दिखाऊँ मैं कैसे।।

————

हे समर्थ हे परम हितैषी तुमसे ही कल्याण हमारा।।
तुम्हें न पाकर व्यर्थ चला जाता मानव का जीवन सारा।।
परम बन्धु युग युग के योगी, महाबुद्ध हे अमर महात्मन्।
चूम सके जो चरण तुम्हारे उसका सफल हुआ मानव तन।।
देव तुम्हारे दर्शन करके लग जाता तुममें जिसका मन।

तुम्हें छोड़ कर कहीं न जाता तुम्हीं दीखते हो प्रियतम धन।
कितनों ने ही सीध लिया मर कर जीने का मन्त्र तुम्हारा।।1।।

जाने कितने मुरझााये मुख खिलते देखे तुमको पाकर।
सदा पीड़ितों की पुकार पर रहे दौड़ते कष्ट उठाकर।
जो कि नहीं सुख देख मिला, वह देखा श्री चरणों में आकर।
जो न कभी हो सका वही, हो गया तुम्हारा ध्यान लगाकर।
शरण ले लिया उसको जिसने कभी हृदय से तुम्हें पुकारा।।2।।

तुमको हमने दीनों दलितों की कुटिया में जाते देखा।
अपनी योग शक्ति से उनके, तुमको दुख मिटाते देखा।
कहीं अश्रु से गीली पलकें स्वामिन्! तुम्हें सुखाते देखा।
जो कि तुम्हें करना था उसमें कभी न देर लगाते देखा।
तुमने उसकी सुनी दयामय, जिसको सबने ही दुतकारा।।3।।

निज तन मन का ध्यान न रखकर तुमने पर उपकार किया है।
तुमने सदा बिना कुछ चाहे प्राणिमात्र से प्यार किया है।
हे संघर्षातीत! तुम्हीं ने षट रिपु का संहार किया है।
शरणागत डूबते हुए को जब देखा तब तार दिया है।
भवसागर में पड़े जीव को नाथ तुम्हीं से मिला किनारा।।4।।

हे अभेद दृष्टा! मंगलमय, शोक विनाशक हे विज्ञानी।
जन मन रंजन, भक्त पाल, हे बाल सखा श्रद्धेय अमानी।
अतुलित प्राणशक्ति के सागर, गुण आगर हे अनुपम दानी।
तुमसे ज्ञान ज्योति पाते हैं, जग के चिर–तमवेष्ठित प्रानी।
सदा अशक्त बद्ध पीड़ित को, दिया तुम्हीं ने शक्ति सहारा।।5।।

वीतराग हे परम तपस्वी, नित्य समाहित, चित्त, धीर तुम।
शिव सुन्दर–सत्य के समिश्रण हरते भव की विषम पीर तुम।

पावन तप के ओज तेज से दीप्तमान निर्दोष वीर तुम।

हे संदर्शक परम तत्व के, चलते तम का हृदय चीर तुम।

'पथिक' हृदय को तुमसे मिलती दिव्य प्रेम की अविरल धारा।।6।।

———————

भोग में अपूर्णता योग में पूर्णता

हमें यह भी समझाया गया है कि इस विशाल अनन्त परमेश्वर की सृष्टि में योगी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। योगी की गति का सम्बन्ध पाचवें लोक से होता है, पाचवें शरीर से साधना चलती है। जो योग भूमि में उतरा हुआ है वह योगी नहीं हो पाता।

भोग भूमि से जिसकी साधना का आरम्भ होता है वह धर्मात्मा, श्रद्धावान साधु, विरक्त, सन्यासी, महात्मा, सन्त पद प्राप्त करता है किन्तु योगी होने के लिये आरम्भ से ही निराला मार्ग हे जिसमें भोग की दिशा में यात्रा न होकर योग के लिये साधना चलती है।

लाखों भोगी मनुष्यों में कोई कोई धर्म परायण मानव होता है।

सहस्त्रों धर्मनिष्ठ मानवों में कोई कोई श्रद्धावान सन्त सदगुरु का संयोगी शिष्य होता है। संयोगी शिष्य ही संयमी होने पर मन से निरोगी होता है।

ऐसे सहस्त्रों शिष्यों के मध्य, कोई नामानुरागी भक्त होता है।

सहस्त्रों नामानुरागी भक्तों में कोई कोई भगवान को तत्वतः जानता है वह तत्व वेत्ता ऋषि कहा जाता है अथवा मुनि माना जाता है।

योग विज्ञान वेत्ताओं द्वारा शास्त्रों में मनुष्य के सात शरीरों और सात चक्रों का जो वण्रन है। वह हम सभी साधकों के समझने योग्य है।

यह सात शरीर एवं सात चक्र सात लोकों से सम्बन्धित रहते हैं। जिस प्रकार भूलोक के बने हुए शरीर की गति भूलोक में ही होती है, इसका अन्त भूलोक में ही होता है इसी प्रकार भुवलोक आदि अन्य लोकों के तत्वों से बने हुये शरीरों द्वारा उन्हीं लोकों में गति प्राप्त होती है। योगी पाचवें लोक का अधिकारी होता है।

तीसरे शरीर के द्वारा तीसरे चक्र की संचित शक्ति को लेकर मनुष्य भोगी बना हुआ है। जिसका मन रोगी है, वही भोगी बनता है। भोगी बन कर सुख के अन्त में दुख भोगता है। दुख की कृपा से आत्म कल्याण की जिज्ञासा करता है।

आत्म कल्याण की जिज्ञासा प्रबल होने पर चौथी देह में जागृति आती है तब चौथा हृदय चक्र जाग्रत होता है। चौथी देह के विकास में 28 वर्ष लगते हैं। अध्यात्म विज्ञान के ज्ञाताओं का निर्णय है कि चौथी देह में भाव की

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्म फलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम।।

किसी प्रकार के कर्माभ्यास से कर्म फल का ज्ञान श्रेष्ठ है अथवा श्रवण अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है ध्यान से त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

ध्यान द्वारा अन्तः दर्शन एवं सत्य दर्शन की यात्रा का आरम्भ होता है। वस्तु के वाह्य रूप को ध्यान से देखना आरम्भ किया जाता है और वस्तु के सत्य तक ध्यान द्वारा ही सद्गति होती है।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्रहण होता है ध्यान द्वारा इन विषयों के आस्वाद का परिणाम ज्ञात होता है प्रायः हम जो कुछ देखते हैं, भोगते हैं उसी को ज्ञान मान लेते हैं लेकिन जिस ज्ञान से बन्धनों का अन्त होता है एवं दुःख की अत्यन्तिक निवृत्ति होती है और शान्ति प्राप्त होती है वह सब ज्ञान ध्यान से ही सुलभ होता है।

मृत्यु का अनुभव अज्ञान में होता है, अमरत्व का अनुभव ज्ञान में होता है——वह ज्ञान, ध्यान से सुलभ होता है।

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी सम लोस्टाश्म कांचनः।।

जो ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो, संग के प्रभाव से रहित है इन्द्रियों को जीते हुए है जिसके लिए मिट्टी और स्वर्ण समान है वही परमात्मा से युकत योगी है।

भगवान के मतानुसार हम साधकों को ज्ञान विज्ञान से तृप्त होना चाहिये लेकिन जब तक हमें लोगों को किसी के संयोग से या किसी वस्तु के लाभ से तृप्ति मिलती दीखती है तब तक हम ज्ञान विज्ञान से विमुख, अज्ञान में हैं। ज्ञान विज्ञान से युकत पुरुष उस लोहार की निहाइ की भांति अपने आप में सुदृढ़ स्थिर रहता है, जिस निहाइ में अगणित हथौड़ों की चोटें लगती रहती हैं, चोट लगाने वाला थक जाता है किन्तु निहाई ज्यों की त्यों स्थिर रहती है। इस प्रकार कूटस्थ की भांति जो अविचलित है उसी पर इन्द्रियों का प्रभाव नहीं पड़ता और वही स्वर्ण और मिट्टी को एक तत्व का ही रूप देखते हैं इसीलिये वह समस्थित परमात्मा से युक्त योगी है।

ध्यान से देखने के पहले ही जो अपने को ज्ञानी विज्ञानी मानता है वही अहंकार है। यह अहंकार अपने ज्ञान विज्ञान का भोगी होता है तृप्त नहीं होता है। तृप्त तो वह आत्मा होता है जो सनातन अखण्ड ज्ञान में ध्यान से देखता है।

यह भी सन्त मत है कि भोगी अहंकार के लिए श्रम पूर्वक कुछ न कुछ करते रहना पुरुषार्थ है। लेकिन परमात्मा की योगानुभूति के लिए अखण्ड ज्ञान में जो कुछ भी सामने है उसे ध्यान से देखते रहना और कुछ न करना ही पुरुषार्थ है।

ज्ञान में ध्यान से देखते रहने पर दृश्य वस्तु स्वभाव का जो परिचय मिलता हे उसे विज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान विज्ञान से दृष्टा को तृप्ति मिलती है। इसीलिए भगवान ने कहा है——ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा।

तृप्तात्मा ही ज्ञान विज्ञान के द्वारा परमयोगी होता है और अहंकार अपने सीमित बुद्धिगत ज्ञान विज्ञान के द्वारा भोगी होता है।

चित्त चिन्ता रहित हो, मन मनन से रहित हो, बुद्धि चेतना में स्थिर हो, यही ध्यान योग की साधना है।

इस प्रकार ध्यान से देखने पर उस अनादि का बोध होता है जो ध्यान के पहले है और उस अनन्त का दर्शन होता है जो विज्ञान के अनन्त में है।

ध्यान से देखने पर ही भौतिक विज्ञान, आधिदैविक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान सुलभ होता है।

आज के भौतिक विज्ञान का इतना चमत्कार जो जन मानस को आकर्षित और आतंकित कर रहा है यह उन्होंने ही प्राप्त किया हे जिन्होंने पदार्थ को ध्यान से देखने की अटूट क्षमता प्राप्त की है। प्राचीन काल में ध्यान से देखने वाले महर्षियों ने नक्षत्र विज्ञान, नवग्रह विज्ञान आदि को प्राप्त किया था।

ध्यान से बाहर की यात्रा भी होती है और अन्तर यात्रा में ही आध्यात्मिक ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है।

ध्यान से अन्तर यात्रा में सद्गति प्राप्त करते हुए योगी द्वारा सात शरीर और सात चक्रों का वर्णन मिलता है।

संसार में प्रत्येक भोगी मानव, तीन शरीरों द्वारा ही विषय रसास्वाद लेते हैं। जिस भौतिक शरीर को हम देखते हैं उसके पीछे एक भाव देह है उसके पीछे मानस देह है उसके साथ सूक्ष्म देह अर्थात लिंग देह है। तदुपरान्त आत्म देह है। इसके पीछे अखण्ड ब्रह्म तत्व है। ब्रह्म तत्व का केन्द्र है। उसके पीछे निर्माण देह बताया जाता है।

अनुभवी सन्तों ने आध्यात्मिक विज्ञान के द्वारा पांचवीं देह का परिचय दिया है।

एक सन्त कह रहे थे– जो तुम्हें दिखाई पड़ता हे वह बहुत ही कम है जो नहीं दीखता वह अनन्त है। जो सुनाई पड़ता है बहुत ही कम है जो नहीं सुना अनन्त है। जिसका स्पर्श होता है वह सीमित है। जिसका स्पश्च नहीं होता उसका अनन्त विस्तार है।

स्थूल शरीर को ध्यान से देखने पर अर्थात् स्थूल शरीर की प्रत्येक क्रिया के प्रति सजग रहने पर दूसरे शरीरों का क्रमशः ज्ञान होता जाता है। ऐसा ध्यान योगी सन्त ने समझाया है।

यह सन्त सम्मति है कि जिस प्रकार निद्रा में शरीर शिथिल हो जाता है स्वांस स्वाभाविक होती है विचार शान्त हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान से देखने पर भी यही होना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि निद्रा में मूर्छा है ध्यान में सतत जाग्रति है। निद्रा में स्वप्नों की हलचल है ध्यान में अन्तर्यात्रा की अनुभूतियां हैं, अर्थात् अन्तर्चक्रों के दर्शन हैं।

सन्त ने हमें समझाया है––ध्यान में पेरों के चलने की हाथों द्वारा होने वाली क्रियाओं की, स्वांस की गति को तथा मन को चंचलता को एवं विचारों को केवल देखते रहो। देखते रहने का प्रयोग सभी समय होना चाहिए लेकिन अभ्यास पेट के खाली रहते ही करना चाहिए।

हमें यह भी समझाया गया है कि प्रायः निद्रावस्था में शक्ति संचित होती है और जाग्रत अवस्था में खर्च हो जाती है। इसी प्रकार व्यर्थ देखना, घूमना, सुनना, बोलना तथा अनावश्यक कथन करना छोड़कर जितना शान्त होकर ध्यान से देखोगे उतनी ही अन्तर यात्रा में तेजी आयेगी और शक्ति संचित होगी।

ध्यान की यह बड़ी सरल युक्ति है कि कम से कम एक घंटा मौन बैठना चाहिए और कोई कल्पना न करते हुए केवल प्रतीक्षा मात्र करना चाहिए। उस समय जो भी भीतर सामने आये उसे स्वीकार करना चाहिए और जब जाये तब कोई आग्रह न करना चाहिए।

एक सन्त की सम्मति है कि जो भी जड़ वस्तु देखो तब यही समझो कि सोया हुआ चेतन है और जब चेतन को देखो तब समझ लो जागा हुआ जड़ है।

पांचवीं देह में जाग्रत होने पर समग्र जड़ ही जागा हुआ परमात्मा दीखता है और परमात्मा ही सोया हुआ जड़ जगत के रूप में अनुभूत होता है।

बुद्धि, चित्त, अहंकार मन के अगणित रूप रहे हैं लेकिन समस्त रूपों के पीछे अस्तित्व एक ही है चेतना एक ही है। वह विक्षुब्ध चेतना ही मन है और शान्त चेतना ही आत्मा है। सदा–सदा से ध्यान योगी इसी प्रकार देखते आ रहे हैं। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने बताया है कि निश्चल चिति ही आत्मा है और चुचल चिति ही मन हे।

ध्यान से देखने विाले योगी को एक तत्व दीखता है अनन्त अभिव्यक्ति दीखती है। एक अनन्त सत्य के ही अनेक रूप दीखते हैं। एक अस्तित्व से ही अगणित आकार एवं मुद्रायें प्रकाशित होती रहती हैं।

हमें सावधान किया गया है कि सुखद–दुखद, अनुकूल, प्रतिकूल जो भी आये सबको स्वीकार करते जाओ एवं शान्त रहो। न निन्दा करो न स्तुति करो। जो भी आता है जो भी जाता है सब ठीक है और हर दशा में सन्तोष है।

शान्ति का समय, मौन का समय जितना बढ़ता जायगा उतना ही अखण्ड ज्ञान में आध्यात्मिक विज्ञान की उपलब्धि होती है।

जिस प्रकार तरंग रहित सरोवर में जो कुछ होता है साफ दीख जाता है उसी प्रकार संकल्प–विकल्प रहित शान्त मन दर्पण का काम करता है।

यह सन्त मत है कि ध्यान की साधना में उन्हीं को सफलता मिलेगी जिनके भीतर आध्यात्मिक प्यास अथवा आत्मज्ञान की प्यास प्रबल है। प्रायः धन की प्यास, भोग–सुख की प्यास, मान की प्यास बेचैन बना देती है लेकिन आध्यात्मिक प्यास बढ़ती जाती है।

एक ध्यान योगी सन्त कह रहे थे––अपने को जानने में आनन्द है। अपने को पाने में आनन्द हे। और अपने को तो खोने में परमानन्द है।

ध्यान से देखते–देखते पांचवें शरीर के बाद यही दशन होता है कि परमात्मा कोई शक्ति नहीं है, अनन्त शक्ति है और उसका जो नियम है वही शाश्वत धर्म है।

सृष्टि की उत्पत्ति एवं उसका सृजन और संहार शाश्वत धर्म के ही अन्तर्गत हैं। हमें यह भी समझाया गया है कि व्यक्ति में भी परमात्मा है परन्तु परमात्मा अनन्त शक्तिमय है। वह शक्ति निष्पक्ष है और नियमानुसार उसकी गतियां हैं एवं विधियां हैं। उससे कुछ भी भिन्न नहीं है।

हमें यह भी समझाया गया है––जगत एवं जगत की वस्तु अर्थात् देहादिक पदार्थ बन्धनकारी नहीं हैं उनसे सम्बन्ध ही बन्धन है। सम्बन्ध ही परतन्त्रता है। सम्बन्ध में ही भोग है। सम्बन्ध ही संसार है। जिस प्रकार अज्ञान में हम संसार से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार ज्ञान में परमात्मा से नित्य सम्बन्धित अनुभव कर सकते हैं। इस परमात्मा से अलग नहीं हो सकते। हम

सब उसी के विस्तार हैं। विराट विश्व उसी का रूप है। उस अदृश्य नित्य चेतन में ही समग्र दृश्य दीख रहा है।

अनुभवी महापुरुषों का निण्र्य है——भगवान की उपासना करते हुए भक्त, चौथे शरीर तक पहुंचता है। हठयोगी, अष्टांगयोगी की पांचवें शरीर में जाग्रति होती है। राजयोगी की छठवें शरीर तक पहुँच होती है। छठवें शरीर में पहुँचने पर द्वैत नहीं रहता, सीमित 'मैं' नहीं रहता। सातवें शरीर में निर्वाण पद प्राप्त होता है।

ध्यान से देखते हुए कोई भी साधक जितना भीतर चेतना की गहराइ में उतरता हे उतना ही शक्ति बढ़ती जाती है। और जितना बाहर आता है, जितना ही कुछ करता है——शक्ति घटती है।

वाह्य जगत में हम लोग भोगी जनों के संग के प्रीााव से सम्पत्ति और सम्मान के लोभी बनते हैं। जब हम योगी महातमाओं से योग ज्ञान–विज्ञान की चर्चा सुनते हैं कभी भगवद् दश्नन की बात सुनते हैं, कभी तीसरे नेत्र खुलने की महिमा सुनते हैं, अनहद नाद की चर्चा सुनते हैं तब वहीं लोभ इस दिशा में भी प्रबल हो उठता है।

हम अनेकों साधक चाहने लगते हैं——ऐसे भगवान के दर्शन कब हो, हमारा तीसरा नेत्र कैसे खुल जाय, हमें भी कोई चमत्कार की शक्ति प्राप्त हो जाय।

सन्त के संग से यह ज्ञात हुआ कि ध्यान योग द्वारा जैसे–जैसे अन्तर प्रवेश होता है वैसे–वैसे अनेकों प्रकार की सिद्धियां प्रगट होने लगती हैं। छठवें शरीर में ध्यान योगी का तीसरा नेत्र खुलता है। चौथे शरीर से द्वैत

और पांचवें से अद्वैत शुरू होता है। जब तक पांचवें शरीर में पहुँच नहीं होती तब तक आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

यह गुरु सम्मति है कि साधक को आनन्द का भी लोभी नहीं होना चाहिए केवल सत्य की प्यास होनी चाहिए।

सारी इच्छायें वासनायें, कामनायें अहंकार के साथ चलती रहती हैं चौथे शरीर तक अहंकार का ही राज्य रहता है। पांचवें शरीर में अहंकार मिटता है केवल अस्मिता शेष रहती है।

जब समस्त विचार शान्त हो जाते हैं तब उस निर्विकार चेतना में ओइम का नाद सब प्रकार ध्वनियों को पार कर जाने पर मिलता है।

मनुष्य के साथ जो देह है इसके भीतर जो चक्र हैं अथवा केन्द्र हैं——यह अन्तर केन्द्र अर्थात् चक्र अथवा देह अन्तर लोकों के द्रव्यों से बने हैं यही अन्तर लोकों के दश्नन के लिये द्वार है।

कोई द्वार कर्म क्रिया से खुलता है, कोई द्वार प्राण–शक्ति के संयम से खुलता है, कोई द्वार भाव के योग से तथा कोई द्वार विचार बल के प्रयोग से खुलता है, कोई द्वार प्रेम के द्वारा खुलता है। अध्यात्म विज्ञान वेत्ताओं का निर्णय है कि सात वर्ष एक–एक शरीर के निर्मित होने में लगते हैं। इक्कीस वर्ष में भौतिक देह भाव देह अथवा काम देह मनस देह अथवा सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।

जो साधना में तत्पर होकर अन्तर यात्रा करते हैं उनका चौथा शरीर क्रियाशील होता है उसी देह द्वारा अनेकों प्रकार के या एक दो विशेष

चमत्कार प्रगट होते हैं, सिद्धियां प्राप्त होती हैं। कुण्डलनी शक्ति चौथे शरीर में जाग्रत होती है। पांचवें शरीर में आत्मानुभव होता है।

छठवें शरीर में ब्रह्म की अनुभूति होती है।

जब तक नित्य ज्ञान में ध्यान से देखने की साधना से जब तक साधक परिचित नहीं होता तब तक सन्तों से सुनकर शास्त्रों से पढ़कर भगवद् दर्शन अथवा सिद्धियों एवं चमत्कारों के लोभवश कोई नेत्र बन्द करके कुछ देर बैठता है कोई कान बन्द करके नाद सुनने का कुछ देर प्रयास करता है कोई भृकुटी में ध्यान लगाकर तीसरे नेत्र के खुलने की आशा लगाता है। मैंने भी यह सब करके देखा है क्योंकि हममें से अनेकों साधकों को वास्तविक ध्यान एवं ज्ञान–विज्ञान का पता ही नहीं होता है।

अज्ञान में एवं अन्धकार में जो यात्रा करने का परिणाम होता है वही परिणाम साधक को अन्धानुकरण से भोगना पड़ता है।

हमने पढ़ा था––वृत्ति के निरोध से योग होता है। योग के लोभवश ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधादि वृत्तियों से संघर्ष करते रहने में बहुत समय बिताने के पश्चात गुरु–विवेक द्वारा ज्ञात हो सका कि वृत्तियों से संघर्ष नहीं करना है प्रत्युत क्रोध को देखना है लोभ को देखना है। जब जो वृत्ति अन्तर में प्रगट हो उसे देखना ही निरोध का उपाय है। वृत्तियों को देखने के लिए आवश्यकता है दृढ़ साहस की और अटूट धैर्य की। प्रायः देखा जाता है––भोग की सिद्धि के लिए मनुष्य साहस ही नहीं दुस्साहस करता रहता है लेकिन योग की सिद्धि के लिए कुछ देर में ही साहस टूट जाता है।

एक सन्त ने हमें समझाया है कि तुम करने के अभिमान को छोड़ दो क्योंकि जो कुछ तुम करना चाहते हो वह परमात्मा के द्वारा हो ही जायगा। सबके पीछे वही परमाश्रय है। जब तुम परमात्मा की दया कृपा का अनुभव करोगे तब तुम्हें शत्रु–मित्र के द्वारा वहीं कराता हुआ दिखाई देगां उसके अनन्त हाथ हैं। देने–लेने के अगणित ढंग हैं। उसके असीम दान हैं।

एक विज्ञान वेत्ता की सम्मति है कि तुमि जो भी साधना करो उसके फल के लिये व्यग्र न रहकर कुछ समय तक, कुछ महीनों तक एक–एक अभ्यास को इतना बढ़ा लो कि तुम्हारे किये बिना स्वतः होता दिखाई पड़े।

यदि तुमने सुना हे और मान लिया हे कि मैं देह नहीं हूँ तो यही स्मृति लगातार चलते हुए, बैठते हुए, उठते हुए, मन ही मन दुहराते रहो कि मैं यह देह नहीं हूँ। इस अभ्यास की सिद्धि तभी समझना जब देह एक वाहन की तरह, मकान की तरह अलग दिखाई पड़ने लगे। इसके पश्चात् ध्यान से हृदय में उतर कर कुछ दिन तक बार–बार यही प्रश्न मन ही मन दुहराते रहो कि जब मैं देह नहीं तो कौन हूँ, कौन हूँ, कौन हूँ। महरूर्र रमण ने यही साधना बताई है। मैं कौन हूँ की खोज करते हुए जिस प्रकार भूताकाश में अपनी देह दिखाई देती है एवं आँख बन्द करने पर चित्ताकाश में अगणित स्मृतियों की रील सी चलती रहती है उसी प्रकार महाकाश को लिए हुए चिदाकाश ही अपनी अपनी अनन्तता में शेष रह जाता है।

भाव शक्ति को लेकर ही श्रद्धा जाग्रत होती है किन्तु इस श्रद्धा के साथ ज्ञान में दर्शन नहीं होता है केवल जानकारी होती है। चौथे शरीर के विकास होने पर श्रद्धा सम्बन्ध ज्ञान से होता है।

चौथे शरीर एवं हृदय चक्र की शक्ति वृत्तियों के जाग्रत होने पर ही साधक, साधु, विरक्त, सन्त, सन्यासी तत्व वेत्ता क्रमशः हो पाता है।

जो योगी होता है वह पहले भोगी नहीं होता। वह जन्म लेने के बाद योग साधना की दिशा में उन्मुख होता है। क्योंकि वह योगी होने के लिये पहले जन्म से ही पांचवें शरीर पर अधिकार लेकर आता है। नीचे के शरीरों की यात्रा पहले के जन्मों द्वारा पूरी करते हुए उनके परिणाम को देखते और छोड़ते हुए आरम्भ से ही अनासक्त देखा जाता है।

जो पहले आसक्त होता है उसे विरक्त होना पड़ता है लेकिन जो आसक्त नहीं होता वह आरम्भ से ही अनासक्त होता है। जो आरम्भ से ही अनासक्त होता है उसे संसार की भोग भूमिका में संघर्ष नहीं करना पड़ता उसे काम क्रोधादि विकारों के वेगों से पराजित नहीं होना पड़ता है।

महापुरुष के वचनों से हमें यह भी ज्ञात हुआ कि शरीर के सात चक्रों में ब्रह्म शक्ति कुण्डलनी की यात्रा पूर्ण होने पर जीवन पूर्ण परमात्मा में मिल जाता है।

वह कुण्डलनी शक्ति जब नीचे चक्रों में रहती है तब मनुष्य उस शक्ति के द्वारा भोगी होता है।

तीसरे शरीर में कुण्डलनी की जाग्रति से मनुष्य उत्तरोत्तर विद्वान होता है, भौतिक विज्ञान में प्रगति करता है।

चौथे शरीर में शक्ति के जाग्रत होने पर चमत्कार घटित होते हैं उसे लोग सिद्ध मानते हैं, भगवान मानते हैं। चौथे शरीर में शक्ति जागरण से

भावना प्रबल होती है, कविता प्रवाहित होती है। भगवान के प्रति गहरा प्रेम भाव प्रबल होता है।

पांचवें शरीर में शक्ति के योग से बहुत ऊँचे चमत्कार घटित होते हैं। आत्मा का बोध होता अद्वैतानुभव होता है। छठवें शरीर में जाग्रति आने पर ब्रह्म तत्व से एकता की अनुभूति होती है।

चौथे शरीर तक गुरु की सहायता आवश्यक है, पांचवें से स्चयं में से ही सब कुछ सुलभ होता है सातवें ब्रह्म निर्वाण लोक में योगी लीन होता है।

सुखोपभोग के लिये सभी भोगी प्राणी जागते हैं, परिवार के लिये सभी मोही जागते हैं। धन प्राप्ति के लिये लोभी जागते हैं। पदाधिकार के लिये अभिमानी जागते हैं। गुरु ज्ञान प्राप्ति के लिये श्रद्धावान शिष्य जागते हैं। भगवद् दर्शन के लिये भक्त जागते हैं योगानुभूति अर्थात आत्मा परमात्मा के अनुभव के लिये योगी जागते हैं।

ज्ञान में सावधान होने से समत्व योग सधता है। समता रहने में ही बुद्धि स्थिर होती है, समझ बढ़ती है, सन्तुलन ठीक रहता है, तटस्थ रहकर प्रत्येक घटना को, परिस्थिति को तथा कर्तव्य को पूर्ण करने का विवेक जाग्रत होता है।

हमें सन्त ने समझाया कि समस्थित रहने के लिये जब सामने हो तभी सावधान रहो उस क्षण सुख को क्षणिकता को स्मरण करो, अपने को सुखी न मानों।

सुख में यदि तुम सम शान्त रह सके तब दुख का प्रभाव नहीं पड़ेगा। सुख में——समत्व से हटा जाओगे। निर्बलता आ जायेगी पराधीनता घेर लेगी। तुम शान्त रहने की तैयारी न करो अपितु सुख में ही आत्म स्थित रहो तब दुख में भी अकम्पित रहोगे।

जहां तुम सन्मान में तथा प्रिय संयोग में अथवा मन चाहे लाभ में हर्षित हो उठे वहीं समता से हट गए समझो।

जहां कहीं तुम्हें कोई वस्तु या व्यक्ति सुख दाता दीखने लगा वहीं से स्वाधीनता दूर होने लगती है।

जब तुम सुख दुख में गम्भीर शान्त अडिग रहते हो वहीं स्वतन्त्र हो ओर समत्व योगी हो।

परिस्थिति में अडिग कम्पित रहने से शक्ति संयमित होती है वही शक्ति योग के ऊँचे सोपानों में उठने के लिये सहायकत होती है।

यदि तुम एक प्रतिकूल शब्द सुनकर हिल जाते हो उत्तेतजित हो जाते हो शान्ति छिप जाती है तब तुम समता में नहीं रह जाते हो। तुम डरते रहते हो कोई ऐसा वैसा न कह दे तब तुम समत्व योग के लिये तत्पर नहीं हो।

सन्त कहते हैं कि सुख की प्रतीति होते ही सुख का स्वाद मिलते ही समझ लो कि उसके पीछे ही दुःख छिपा है उसी सिक्के का दूसरा पहलू है।

समता में स्थिर रहने के लिये प्रज्ञा शक्ति की अपेक्षा रहती है।

सन्त का निर्णय है कि सुखद दुखद परिस्थिति में कांप जाना घबरा जाना ही समता की चट्टान से फिसल जाना है। कांप जाना ही संसार में जाना है।

अनन्त कम्पनों के समूह को ही संसार कहते हैं। जो स्थिर रहता ही नहीं सब कुछ सरकता ही रहता है उसे विद्वान जन संसार कहते हैं। तुम संसार में सुख को, अधिकार को, संयोग को, सम्बन्ध को शरीर को अवस्थाओं को शक्ति सम्पत्ति को पकड़े रहना चाहते हो तब तो ज्ञान में देखा ही नहीं। हमें समझाया गया है कि जो कुछ भी तुम्हें अपने से बाहर दीखता है या प्रतीत होता है वह तुम्हारा है ही नहीं उससे मिलकर तुम 'मैं' और 'मेरा' समझना छोड़ दो। जब तक सम्बन्धित 'मैं' और 'मेरा' बना रहेगा यह अन्तर में उतरने ही न देगा।

नाव से यात्रा करो किन्तु उससे मिलकर मैं और मेरी समझना त्याग दो। नाव बाहर है, सम्बन्ध भीतर है। नाव छूटने पर भी सम्बन्ध बना रहेगा। इसीलिये शरीर सम्पत्ति परिवार के सम्बन्धी छूटने पर भी सम्बन्ध बना रहता है वही बन्धन है जो योग में बोध में बाधक बनता है।

जो आत्मा परमात्मा का विस्मरण करा दे वही भोग है। जो आत्मा परमात्मा को भूलने ही न दे वही योग है। बुद्धि से चाहते हुए भी मन से विकारों का त्याग नहीं हो पाता। एक भक्त अपने भावानुसार भगवती से प्रार्थना करते है––

मत्समः पात की नास्ति पापध्नी त्वत्समा नहि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यं तथा कुरु।।

अर्थ––मेरे समान कोई पातकी नहीं और माता तुम्हारे समान पापों को नष्ट करने वाला भी कोई नहीं दीखता इस प्रकार जानते हुए हे महादेवी जैसा उचित लगे वैसा करो। सर्व समथ्र परम शक्ति की शरण लेने पर अपने सभी प्रकार के बलों से निराश होने पर उसकी दया कृपा से जो कामना पूरी होने से अपना हित होना है वह अनायास पूरी होकर विरक्ति आ जाती है और जिसकी पूर्ति से अहित है उसके त्याग का बल सुलभ हो जाता है।

समर्थ प्रभु की शक्ति से ही हम अपने संकल्प की पूर्ति कर पाते हैं और उन्हीं की शक्ति से संकल्प का त्याग भी कर पाते हैं।

उपनिषदों में बार बार ध्यान से आत्मा के दर्शनानुभूति के लिये प्रेरणा दी गई है। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्।''

परम गुरु भगवान ने ध्यान योग की भूमिका से लेकर अन्तिम सिद्धि तक यह निर्णय कर दिया है कि ध्यान योग की पूर्णता के लिये विशुद्ध बुद्धि आवश्यक है। एकान्त शुद्ध देश में निवास भी सहायक है। साथ ही अल्पाहार और मन पर, वाणी पर शरीर पर ध्यान योग के लिये अधिकार भी अनिवार्य है।

ध्यान योग परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।

तब ध्यान योग में तत्पर वैराग्यवान साधक सात्तिक भावना में दृढ़ अन्तःकरण को वश में करके शब्दादि विषयों में बहिर्मुख न होकर राग द्वेष से तथा अहंकार से छूट कर बल दर्प, काम, क्रोध और संग्रह का त्याग कर ममता रहित, शान्त हृदय होने पर ब्रह्म को प्राप्त करने योग्य होता है। तदन्तर वह ब्रह्मभूत (ब्रह्मरूप) होकर प्रसन्नात्मा, शोक और आकांक्षा से रहित

समस्त भूत चराचर समभाव की स्थिति को प्राप्त होता है तब उसे भगवान की पराभाक्ति प्राप्त होती है उस पराभाक्ति के द्वारा भगवान को सम्पूर्ण रूप से जानकर–पूग्र तत्व ज्ञान को ध्यान योग द्वारा प्राप्त होकर भगवान में ही प्रवेश कर जाता है अर्थात् तद्रूपता को प्राप्त होता है। (गीता 18 / 51–55)

हमें यह भी बताया गया है कि साधना में अन्तर यात्रा में भीतर उतरने से तुम मृत्यु से हानि से न डरो अपितु मृत्यु को जानो। मृत्यु को जानते ही तुम अपने को मुक्त देखोगे।

जीवन में आत्मा परमात्मा का लाभ जानते ही हानि के भय से रहित हो जाओगे।

चौथे शरीर में जाग्रत होने पर ओम की ध्वनि गूँजती है वहां ओम बोलने की आवश्यकता नहीं केवल सुनना ही होता है। ओम नाम का जप बाहर होता है और दर्शन भीतर होता है।

बाहर भेद भाव मिटाने का उपदेश दिया जाता है तब भी मिटता नहीं लेकिन पांचवें शरीर में भेद भाव रहता ही नहीं अद्वैत तत्व ही अनुभूत होता है। स्त्री पुरुष का लिंग भेद मिट जाता है। विचार स्वतः शान्त हो जाते हैं।

पांचवे शरीर में प्रज्ञा खुलती है वहीं पर आत्मा उपलब्ध होती है। चौथे शरीर में ज्ञान होता है पांचवें शरीर में बोध होता है। छठवें शरीर में अनन्त ब्रह्म का असीम विस्तार बताया जाता है।

हम साधक तो अभी तीसरे शरीर के ऊपर नहीं पहुँच पा रहे हैं। नीचे के शरीरों से सुख की कल्पना कर रहे हैं। इसी शरीर में भावमयी शक्ति से

भगवान का नाम लेकर रूप की कल्पना को साकार बनाने के लिये प्रीति भी एकत्रित नहीं कर पा रहे हैं। यहां शान्ति कहां? आनन्द कहां? केवल अनुमान है।

स्वयं अपने ही पास रहते हुए अन्य कोई याद न आये इसी उपासना से परमात्मा से मानी हुई दूरी मिटती जाती है। संसार की वस्तुओं व्यक्तियों से माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता है और माने हुए सुख दुख का प्रभाव नहीं रहता है।

हमें यह भी बताया गया है कि ध्यान से सभी कर्मों के मध्य में उसे देखो जो अकर्ता है, सभी गतियों के मध्य वह अचल है, सभी द्वन्द्वों के मध्य में वह द्वन्द्वातीत है, वह तूफानों हलचलों के मध्य में आकाश की भांति निर्लिप्त है।

भगवान दत्तात्रेय की निरन्तर यही अनुभूति थी :–

निष्कर्म कर्म परमं सततं करोमि।
निःसंग संग रहितं परमं विनोदम्।।
निर्देह देह रहितं सततं विनोदम्।
ज्ञानामृतं सम रसं गगनो पमोऽहम।।

हम आकाश वत निर्लिप्त समरस ज्ञान स्वरूप अमृत हैं। (अ0 गीता)

सन्त सन्देश है कि यह संसार रूपी चक्की में सब कुछ पीसता दीख रहा है तुम घूमते हुए चाक के बीच में न रहो कील का आश्रय लो। वह कील की भांति परमात्मा है। तुम कर्म में नहीं अकर्म में रहो, करने को नहीं, होने को देखो।

एक सन्त ने बताया है कि कर्म, मन की बाहरी परिधि है। विचार, मन के मध्य का घेरा है।

भाव, मन की अन्तिम सीमा है। सत्य इन तीनों के पार होने पर अनुभूत होता है, उसका कोई मार्ग नहीं है वह यहीं तो है। वह कभी नहीं, अभी है––ऐसी अनुभूति में पूर्णता की प्राप्ति है।

पूर्णता

जीवन की पूर्णता है सत प्रेम के पाने में।
सत् प्रेम सुलभ होता अहंकार मिटाने में।।
यह अहंकार मिटता जब ध्यान सधा होता।
सधता है ध्यान मन को निर्विषय बनाने में।।
मन तब विरक्त होता, जब आत्मा में रति हो।
वह आत्मरति भी होती निष्कामता लाने में।।
निष्कामता आती है जब संग दोष हटता।
रहता असंग मन है भोगों से बचाने में।।
भोगों में उसी की ही आसक्ति रहा करती।
जो कायर है परहित व्रत – धर्म निभाने में।।
अज्ञान की परिधि में सब पाप हुआ करते।
विरले ही सावधान आत्म–ज्ञान जगाने में।।
सेवा भजन के द्वारा भोगी भी बने योगी।
हम पथिक प्रभु कृपा से आये हैं ठिकाने में।।

———–

बेला अमुत गया आलसी सो रहा बन अभागा।
साथी सारे जगे तू न जागा।।

झोलियां भर रहे भाग्य वाले, लाखों पतितों ने जीवन सम्हाले।
रंक राजा बने, ज्ञान रस में सने, कष्ट भागा।।साथी सारे0।।
कर्म उत्तम थे नर तन जो पाया। मूर्ख रह करके हीरा गवांया।
हो गयी उल्टी मति करके अपनी ही क्षति, विष में पागा।।साथी सारे0।।
धर्म वेदों का देखा न भाला, समय खोया पड़ा दुख से पाला।
सौदा घाटे का कर, हाथ माथे पै धर, रोने लेगा।।साथी सारे0।।
सत् असत् को न तूने विचारा, सिर से ऋषियों का ऋण न उतारा।
हंस का रूप था, गंदला पानी पिया, बनके कागा।।साथी सारे0।।
सीख गुरु की अभी मान ले तू निज को विज्ञान से जान ले तू।
शब्द सोहं का भज देह अभिमान तज, हो विरागा।।साथी सारे0।।

———————

lk/kq os"k esa ifFkd dk laf{klr ifjp;

आपके शरीर का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सम्वत 1935 में हुआ था। आपके पिता जिला फतेपुर ग्राम–बकेवर के रहने वाले थे। कालान्तर में वह जाकर ग्राम–साढ़ जिला कानपुर में रहने लगे। आपकी बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत हुई। वहीं पर कुछ शिक्षा प्राप्त की। आपको बचपन से देवी–देवताओं पर पूर्णतः विश्वास था। आपके माता–पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आप ग्राम के बाहर भूँधरा खोदकर तप करने लगे। इस अवस्था में भी अनेक लोग आपके दर्शन करने आया करते थे।

बाल्याकाल से ही किसी से उपदेश सुने बिना भगवान के नाम जप स्मरण में विश्वास था। आरम्भ से ही एक परमहंस अवधूत सन्त में श्रद्धा हो गयी जो नग्न ही घूमते थे। कोई वस्त्र न रखते थे। स्नान के पश्चात खाक लगा के जल सुखाते थे। उसे विभूति कहते थे।

गुरु महाराज ने आपका नाम ''पलकनिधि'' रखा था। वैसे आस–पास के गाँव के लोग आपको ''ब्रह्मचारी'' कहा करते थे। सीतापुर में आपने बहुत समय तक तप किया। नदी किनारे पर्ण कुटी बनाकर आपने तप किया। उस समय आप टाट का ही अचला, लंगोटी, बिछाने ओढ़ने के लिये भी आप टाट का ही प्रयोग करते थे। चना, गेहूँ को फुलाकर खाते थे।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर सब कुछ छोड़कर साधु वेश में विचरण करते हुए अनेकों कविताएं लिखीं। एकान्त सेवी होने के कारण पद्य के साथ साथ गद्य लिखना आरम्भ हुआ। लगभग पैंसठ पुस्तकें छपी। मान

प्रतिष्ठा पूजा भेंट से सदा विरक्त रहकर विचरण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का समाजव्यापी प्रचार बढ़ता गया, विचारों की प्रधानता से विचारक समुदाय की वृद्धि होती गयी। 'साधु वेष में एक पथिक' नाम से कल्याण में लेख छपते रहे। आपने अठसराय में नागा निरंकारी विद्यालय बनवाया और जिला कानपुर ग्राम–साढ़ में भी आपने विद्यालय बनवाया है।

ज्येष्ठ–शुक्ल पंचमी तदनुसार 10 जून 1997 को परमार्थ आश्रम हरिद्वार में आपका शरीर पूर्ण हुआ और वहीं पर भव्य सन्त पथिक समाधि मन्दिर बना है।